

# मत्स्यमहापुराणाङ्क ( उच्चरार्थ ) की विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या	अध्याय	सूची
	-शिव-पार्वतीका ध्यान	...	७	१४५—युगानुसार प्राणियोंकी जारीरहेस्थिति एवं वर्ण-
	-मनुद्वारा भगवान् मत्स्यका स्तवन	...	८	व्यवस्थाका वर्णन, चातुर्मार्त, वर्ष, तप, यज्ञ,
१३३—त्रिपुर-विध्वंसार्थ शिवजीके विचित्र रथका	निर्माण और देवताओंके साथ उनका युद्धके			क्षमा, शम, दया आदि गुणोंका लक्षण,
	लिये प्रस्थान	...	४६९	चातुर्हौन्त्रकी विधि तथा पाँच प्रकारके
१३४—देवताओंसहित शंकरजीका त्रिपुरपर आक्रमण,	त्रिपुरमें देवर्षि नारदका आगमन तथा युद्धार्थ			शृणियोंका वर्णन     ...
	असुरोंकी तैयारी	..	४७४	...     ...
१३५—शंकरजीकी आज्ञासे इन्द्रका त्रिपुरपर आक्रमण,	दोनों सेनाओंमें भीषण संग्राम, विशुन्मालीकी			५३३
	पराजय देवताओंकी विजय और दानवोंका			
	युद्धविमुख होकर त्रिपुरमें प्रवेश	...	४७७	
१३६—मयका चिन्तित होकर अद्वृत बावलीका निर्माण	करना, नन्दिकेश्वर और तारकासुरका भीषण			
	युद्ध तथा प्रमथगणोंकी मारसे विमुख होकर			
	दानवोंका त्रिपुर-प्रवेश	...	४८४	
१३७—बापी-शोपणसे मयको चिन्ता, मय आदि	दानवोंका त्रिपुरसहित समुद्रमें प्रवेश तथा			
	शंकरजीका इन्द्रको युद्ध करनेका आदेश	...	४८९	
१३८—देवताओं और दानवोंमें घमासान युद्ध तथा	तारकासुरका वध	...	४९२	
१३९—दानवराज मयका दानवोंको समझा-युक्ताकर	त्रिपुरकी रक्षामें नियुक्त करना तथा त्रिपुर-			
	कौमुदीका वर्णन	...	४९८	
१४०—देवताओं और दानवोंका भीषण संग्राम,	नन्दीश्वरद्वारा विशुन्मालीका वध, मयका			
	पलायन तथा शंकरजीकी त्रिपुरपर विजय	५०१		
१४१—पुरुरवाका सूर्य चन्द्रके साथ समागम और पितृ-				
	तर्पण, पर्वतसंधिका वर्णन तथा श्राव्हभोजी			
	पितरोका निरूपण	...	५०८	
१४२—युगोंकी कालगणना तथा त्रेतायुगका वर्णन	...	५१५		
१४३—यज्ञकी प्रवृत्ति तथा विधिका वर्णन	..	५२१		
१४४—द्वापर और कलियुगकी प्रवृत्ति तथा उनके				
	स्वभावका वर्णन, राजा प्रमतिका वृत्तान्त तथा			
	पुनः कृतयुगके प्रारम्भका वर्णन	...	५२५	



## COLLECTION OF VARIOUS

- HINDUISM SCRIPTURES
- HINDU COMICS
- AYURVEDA
- MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of  
hinduism  
server!

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या	अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
	पार्वतीरूपमें जन्म, काम-दहन और शतिकी प्रार्थना, पार्वतीकी तपस्या, शिव-पार्वती-विवाह तथा पार्वतीका वीरकको पुत्ररूपमें स्वीकार करना	... ६०१		सुषिसम्बन्धी विविध प्रश्न और भगवान्‌रूप उत्तर	... ६८७
१५५	-भगवान् शिवद्वारा पार्वतीके वर्णपर आलेप, पार्वतीका वीरकको अन्तःपुरका रक्षक नियुक्त कर पुनः तपश्चर्योंके लिये प्रस्थान	... ६५१	१६५-चारों युगोंकी व्यवस्थाया वर्णन	... ६९०	
१५६	-कुमुमामोदिनी और पार्वतीकी गुप्त मन्त्रणा, पार्वतीका तपस्यामें निरत होना, आडिदैत्यका पार्वती-स्त्रपंै शक्तके पास जाना और मृत्युको ग्राम होना तथा पार्वतीद्वारा वीरकको शाप	६५४	१६६-महाप्रलयका वर्णन	... ६९२	
१५७	-पार्वतीद्वारा वीरकको शाप, ब्रह्माका पार्वती तथा एकानंशाको वरदान, एकानंशाका विन्द्याचलफे लिये प्रस्थान, पार्वतीका भवनद्वारपर पहुँचना और वीरकद्वारा गेका जाना	... ६५७	१६७-भगवान् विष्णुका एकार्णवके जलमें शयन, मार्कण्डेयको आश्रम पर तथा भगवान् विष्णु और मार्कण्डेयजा संवाद	... ६९४	
१५८	-वीरगद्वारा पार्वतीकी स्तुति, पार्वती और शंकरका पुनः समागम, अग्निको शाप, कृत्तिकाओंकी प्रतिज्ञा और स्कन्दकी उत्पत्ति	६५९	१६८-पश्चमदाभूतोंका प्राकृत्य तथा नारायणकी नाभिने कमलकी उत्पत्ति	... ६९९	
१५९	-स्कन्दकी उत्पत्ति, उनका नामकरण, उनसे देवताओंकी प्रार्थना और उनके द्वारा देवताओंको आश्वासन, तारकके पास देवदूत-द्वारा सदेश भेजा जाना और मिठोद्वारा कुमारकी स्तुति	... ६६३	१६९-नाभिकमलों वृत्ताकार प्रादुर्भाव तथा उम कमलका गाङ्गोपान्न वर्णन	... ७००	
१६०	-तारकाम्बुज और कुमारका भीषण युद्ध तथा कुमारद्वारा तारकका वध	... ६६८	१७०-मधु-केटपकी उत्पत्ति, उनका वृत्तान्त साथ वार्तालाप और भगवान्नद्वारा वध	... ७०२	
१६१	-हिरण्यकशिष्युकी तपस्या, ब्रह्माद्वारा उसे वर-प्राप्ति, हिरण्यकशिष्युका अत्याचार, विष्णुद्वारा देवताओंको अभयदान, भगवान् विष्णुका नरसिंहरूप धारण करके हिरण्यकशिष्युकी विचित्र मध्यमें प्रवेश	... ६७०	१७१-तारकाम्बुजकी उत्पत्ति, ददकी वारह कन्याओंका वृत्तान्त, ब्रह्माद्वारा सुषिका विकास तथा विविध देवयोनियोंकी उत्पत्ति	७०५	
१६२	-प्रह्लादद्वारा भगवान् नरसिंहका स्वरूप-वर्णन तथा नरसिंह और दानवोंका भीषण युद्ध	६७७	१७२-तारकाम्बुजकी भूमिका एवं भगवान् विष्णुका महासुमुद्रफे रूपमें वर्णन, तारकादि असुरोंके अत्याचारसे दुःखी होकर देवताओंकी भगवान् विष्णुने प्रार्थना और भगवान्नका उन्द्र आश्वासन	... ७१०	
१६३	-नरसिंह और हिरण्यकशिष्युका अत्याचार, विष्णुद्वारा देवताओंकी युद्धार्थ तंयारी	... ७१३	१७३-देवताओंका युद्धार्थ अभियान	... ७१६	
१६४	-देवताओं और दानवोंका घमासान युद्ध, मयकी तामसी माया, और्वाणिनी उत्पत्ति और महर्षि ऊर्जवाणि हिरण्यकशिष्युको उमकी प्राप्ति	... ७२०	१७४-देवताओं और दानवोंका वसुणद्वारा और्वाणिनी-मायाका प्रश्नमन, मयद्वारा गौली-मायाका प्राकृत्य, भगवान् विष्णुके आदेशसे अग्नि और वायुद्वारा उस मायाका निवारण तथा कालनेमिका रणभूमिमें आगमन	... ७२६	
१६५	-नरसिंह और हिरण्यकशिष्युका भीषण युद्ध, दैत्योंको उत्पातदर्शन, हिरण्यकशिष्युका अत्याचार, नरसिंहद्वारा हिरण्यकशिष्युका वध तथा ब्रह्माद्वारा नरसिंहकी स्तुति	... ६८०	१७५-देवताओं और दैत्योंकी सेनाओंकी अद्भुत मुट्ठमेड़, कालनेमिका भीषण पग्कम और उसकी देवमेनापर विजय	... ७३०	
१६६	-पश्चोद्धवये प्रमद्भूमं सतुद्वारा भगवान् विष्णुमें		१७६-चन्द्रमाकी सहायतान्ते वसुणद्वारा और्वाणिनी-मायाका प्रश्नमन, मयद्वारा गौली-मायाका प्राकृत्य, भगवान् विष्णुके आदेशसे अग्नि और वायुद्वारा उस मायाका निवारण तथा कालनेमिका रणभूमिमें आगमन	... ७२६	
			१७७-देवताओं और दैत्योंकी सेनाओंकी अद्भुत मुट्ठमेड़, कालनेमिका भीषण पग्कम और उसकी देवमेनापर विजय	... ७३०	
			१७८-कालनेमि और भगवान् विष्णुका रोपपूर्वक वार्तालाप और भीषण युद्ध, विष्णुके चक्रके		

क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या	भाष्यार्थ	विषय	पृष्ठ-संख्या
१८०-दारा इस्तेसिद्ध कश और देहताओंको पुनः निवारणी प्राप्ति	...	७२५	२०१-प्रवरातुकीर्तनम् महर्षि पराशरके वशका वर्णन ८३३		
१८१-शिवलीके साथ अन्नरामुरसा सुख, शिवजी- दारा भातूहामोही सहि, शिवलीके हथों अन्वकली सूखा और डसे गोरालमरि प्राप्ति, मातृकाओंसे विघ्नसंलीला तथा निषुनिभित देवियोंदारा उनका अन्नोग	...	७४१	२०२-गोद एक जीर्तनम् महर्षि अग्रसत्य, पुनः बुद्धस्त्व और क्रतुकी शाकाखोका वर्णन ८३६		
१८२-वाराणसी-भारात्म्यके प्रसङ्गमें हरिकेश यशकी तपस्या, अविमुक्तकी शोभा और उसका माहात्म्य तथा हरिकेशादे शिवजीदारा वर-प्राप्ति	...	७१७	२०३-प्रवर-कीर्ति एमे धर्मके वंशका वर्णन ८३७		
१८३-अविमुक्तशेष-( वाराणसी-)का माहात्म्य	...	७१६	२०४-श्रद्धकला—पितृगाथा-कीर्तन ८३८		
१८४-अविमुक्त-माहात्म्य	...	७४१	२०५-धेनु-दान-निरि ८४०		
१८५-वाराणसी-भारात्म्य	...	७७५	२०६-बृहाणमुगचरसेष दानकी निधि और उसका माहात्म्य ८४१		
१८६-नर्मदा-माहात्म्यका उपक्रम	...	७८०	२०७-उत्तर्ग विष्ये जानेवाले बृहत्ते लक्षण, तृप्तोत्सर्गका निधान और उसका महत्व ८४४		
१८७-नर्मदा-माहात्म्यके प्रसङ्गमें पुनः शिषुराख्यान	...	७८४	२०८-सावित्री और सत्यवानका चरित्र ८४७		
१८८-चिपुर-दाटका बृत्तान्त	...	७८८	२०९-सत्यवानका सावित्रीको बनकी शोभा दिखाना ८४९		
१८९-नर्मदा-फावेरी-सगमका माहात्म्य	...	७९५	२१०-यमराजका सत्यवानके प्राणको बोधना तथा सावित्री और यमराजका वार्तालिप ८५२		
१९०-नर्मदाको तटवर्ती तीर्थ	...	७९७	२११-सावित्रीको यमराजसे द्वितीय वरदानकी प्राप्ति ८५४		
१९१-नर्मदाके तटवर्ती तीर्थोंका माहात्म्य	...	७९९	२१२-यमराज-सावित्री-रांवाद तथा यमराजद्वारा सावित्रीको तृतीय वरदानकी प्राप्ति ८५६		
१९२ शुल्क-तीर्थका माहात्म्य	...	८०८	२१३-सावित्रीकी विजय और सत्यवानवी बन्धन-गुक्ति ८५९		
१९३-नर्मदा-माहात्म्य-प्रसङ्गमें कपिलादि विविध तीर्थोंका माहात्म्य, भृगुतीर्थका माहात्म्य, भृगुनिकी तपस्या, शिव-पार्वतीका उनके सग्रह प्रकट होना, भृगुदारा उनकी स्तुति और शिवजीदारा भृगुको वर-प्रदान	...	८११	२१४-सत्यवानको जीवन-लाभ तथा पल्लीसहित राजाको नीत्रज्योति एवं राज्यकी प्राप्ति ८५१		
१९४-नर्मदा-नटवर्ती तीर्थोंका माहात्म्य	...	८१६	२१५-राजाका कर्तव्य, राजवर्मचारियोंके लक्षण तथा राजपर्मका निष्पत्ति ८५२		
१९५-गोद्र-प्रतर-निलाण-प्रसङ्गमें भृगुवंशकी परम्पराका विवरण	...	८२१	२१६-राजपर्मवारियोंके पर्मका वर्णन ८५०		
१९६-प्रवरातुकीर्तनमें गहर्षि आक्षियों, वंशका वर्णन	...	८२४	२१७-तुर्ग-निर्गाणकी विधि तथा राजाद्वारा दुर्गमें संग्रहणीय उपकरणोंका विवरण ८५३		
१९७-गहर्षि अधिके, वंशका वर्णन	...	८२८	२१८-तुर्गमें संग्रहा ओपविधियोंका वर्णन ८५८		
१९८-प्रवरातुकीर्तनमें गहर्षि विद्यामित्रये वंशका	...	८२८	२१९-विष्णो युक्त पदाधियोंके लक्षण एवं उससे राजाके वंशनके उपाय ८५१		
वर्णन	...	८२९	२२०-राजपर्म एवं राजान्य नीतिका वर्णन ८५४		
१९९-गोद्र-प्रथा-कीर्तनमें गहर्षि वाद्यपदे, वंशका वर्णन	...	८३०	२२१-दैव और पुण्यार्थका वर्णन ८५७		
२००-गोद्र-प्रथा-कीर्तनमें गहर्षि वसिष्ठवी । .।।			२२२-राम-नीतिका वर्णन ८५८		
कथन	...	८३०	२२३-नीति चतुष्पात्रों, अन्तर्गत गेद-नीतिका वर्णन ८५९		

## चित्र-सूची

( वहुरंगे-चित्र )

१—भगवान् गत्स्यरूपमें	मुक्ति	६—( १ ) सत्पर्मिश और पार्वतीर्णी	... ६२६
२—भगवान् शंकरद्वारा पार्वतीको उपदेश	... ७	( २ ) पार्वतीर्णी के द्वारा लगाना	... ६२६
३—वज्राद्वारे वज्राजीद्वारा वधप्रदान	... ५४६	७—भगवान् नर्मिला ( नर्मिलिङ्ग ) का युद्ध	... ६२६
४—लोकनाथ चतुर्भुज भगवान् विष्णु	... ५६१	८—गारिनीको वगडाना वधप्रदान	... ६२८
५—विदेशोकी एकता	... ५९०	९—भगवान् कुमार्यमें	... ६२०
—८४८—			

( रेखा-विषय )

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित मत्साहित्य एवं ज्ञान-भक्तिवेगार्थ-मदानार-  
परक मासिक 'कल्याण' का घर-घरमें प्रचार कीजिये

सल, सुन्दर, सचित्र धार्मिक पुस्तकों सस्ते डामोंमें खरीदकर खर्च पर्हिये, मिश्रतो या ऐसे जीर्ण उत्तम घर-घरमें प्रचार कर वालक-वृद्ध, खी-पुरुष, विद्वान्-अविद्वान् सबको लाभ पहुँचायें।

'कल्याण' के ग्राहक वनिये और मिश्रों-परिचिनियोंको वनवाइये।

यहाँ आर्द्ध भेजनेके पहले अपने शहरके पुस्तकप्रिक्रियासे मापिये। यहाँ 'महात्माके लालक' भी बनाये जाते हैं। इसमें आपको मुखिधा होगी। आप भारी डाकउच्चसे वन सर्वतो। भालूर्मि लगाना तेज़ हजार पुस्तक-विक्रेताओंके यहाँ गीताप्रेसकी पुस्तक मिश्रती है। निम्नशिवित सातोगर गौतमेन्द्रिया निर्मी दूकानें हैं।

## निजी दूकानोंके पते—

- फोन नं०  
३४६८९४ ( १ ) कल्कत्ता—गोविन्दभगवन्-कार्यालय, पता—१५१, महामार्गार्णी रोड़। पिन ३००००३  
३४०५५६  
२६९६७८ ( २ ) दिल्ली—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान, पता—२६०१, नवी नदी। पिन ११०००६  
( ३ ) पटना—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान, पता—अशोकगढ़पाटा, वृंद अदरतालके सामने काटडाउन सामने। पिन ८००००४  
६७२८२ ( ४ ) कानपुर—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान, पता—नं० २४। ५५, चिरहासा रोड़। पिन २००००१  
६३०५० ( ५ ) वाराणसी—गीताप्रेस, कागज-ए-जेनरी, पता—५०। १०, नीचीवाराणी।  
( ६ ) हरिछार—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान, पता—सच्चीमठी, मोतीवाराणी।  
( ७ ) ऋषिपिकेश—गीताप्रेस, पता—गंगापार, स्वर्गश्रम। पिन २४९३०५

## सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो०—गीताप्रेस ( गोरखपुर ) पिन—२७३०००, फोन नं० ३०३०

—८४९—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमैवावश्यते ॥



वेदानुद्रते जगन्निवहते भूगोलमुद्धिप्रते दैत्यं दारयते वलि छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।  
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मृर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५९ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, जनवरी १९८५ ई० { संख्या १  
} पूर्ण संख्या ६९८

### शिव-पार्वतीका ध्यान

इ. हलीम बृजसेन गलाट

क्षोणी यस्य रथो रथाङ्गयुगलं चन्द्रार्कविम्बद्वयं  
कोदण्डः कनकाचलो हरिरभूद् वाणो विधिः सारथिः ।  
तृणीरो जलधिर्हयः श्रुतिवयो मौर्वी भुजङ्गाविप-  
स्तसिन् मे हृदयं सुखेन रमतां साम्ये परब्रह्मणि ॥

‘(त्रिपुरदाहके समय) जिनके लिये पृथ्वी रथ, चन्द्रमा और  
सूर्य—ये दोनों उस स्थके दोनों पहिये, सुमेहगिरि धनुष्, भगवान् विष्णु  
वाण, ब्रह्मा सारथि, समुद्र तृणीर, चारों वेद धोडे और वासुकिनाग प्रत्यञ्चा  
बने, उन परब्रह्मखरूप पार्वतीसहित परमेश्वरमें मेरा हृदय सुखपूर्वक  
रमण करता रहे ।’

## मनुद्वारा भगवान् मत्स्यका स्तवन

**नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽसामिः श्रुतोऽपि च । यो भगवान् योजनशतमहापित्यानये सरः ॥**

मनुने कहा—आपने जो एक ही दिनमें चार सौ योजन विस्तारवाले सरोवरको धेर किया —ऐसे पराक्रमी जलचर जीवको तो हमने न कभी देखा था और न सुना ही था ।

**लूनं त्वं भगवान् साक्षाद्विर्नाराणोऽव्ययः । अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकमाम् ॥**

अब यह ही आप साक्षात् सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं । आपने जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये जलचरका रूप धारण किया है ।

**नमस्ते पुरुषश्चेष्ट स्थित्युत्पत्त्यप्ययेव्वर । भक्तानां नः प्रपन्नानां मुग्न्यो व्यात्मगतिविभो ॥**

पुरुषोत्तम ! आप जगत्की उत्पत्ति, प्रिंति और प्रलयके स्वामी हैं, आपको नमस्कार है । त्रिमो ! आप हम शरणागत भक्तोंके लिये आत्मा और आश्रय हैं ।

**सर्वे लीलावतरास्ते भूतानां भूतिहेतवः । ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम् ॥**

यद्यपि आपके सभी लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिये ही होते हैं, तथापि आपने यह रूप जिस उद्देश्यसे धारण किया है, उसे मैं जानना चाहता हूँ ।

**न तेऽरविन्दाक्ष पदोपर्सर्पणं मृपा भवेत् सर्वसुहृत्प्रियात्मनः ।**

**यथेतरेषां पृथगात्मनां सतामदीद्यशो यद् वपुरङ्गुतं हि नः ॥**

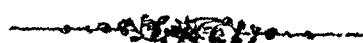
कमलनयन ग्रभो ! जैसे देहादि अनात्मपदार्थोंमें अपनेपनका अभिमान करनेवाले संसारी पुरुषोंका आश्रय व्यर्थ होता है, कैसे आपके चरणोंकी शरण तो व्यर्थ हो नहीं सकती; क्योंकि आप सबके ब्रेमी, परम प्रियतम और आत्मा हैं । आपने इस समय हमलोगोंको जो शरीर दिखाया है, वह वहां ही अद्भुत है ।

**प्रलयपश्चि धातुः सुपशक्तेषुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं ग्रत्युपादत्त हस्त्वा ।**

**दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यवतानां तमहमस्विलहेतुं जिह्वमीनं नतोऽस्मि ॥**

प्रलयकालीन समुद्रमें जब ब्रह्माजी सो गये थे और उनकी सृष्टि-शक्ति लुप्त हो चुकी थी, उस समन दैन्य ह्यग्रीवने उनके मुखसे निकली हड्डी श्रुतियोंका अपहरण कर किया था, तब जिन्होंने उसे मारकर उन श्रुतियोंको ब्रह्माजीको लौटाया तथा सत्यवत और सप्तरियोंको ब्रह्मतत्त्वका उपदेश दिया, उन समस्त जगत्के कारणभूत लीलामत्स्य भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ।

( संकलित—श्रीमद्भा० ८ । २४ । २६—३०, ६१ )



## एक सौ तैतीसिवाँ अध्याय

### त्रिपुर-विघ्नसार्थ शिवजीके विचित्र रथका निर्माण और देवताओंके साथ उनका युद्धके लिये प्रस्थान

सूत उचाच

ब्रह्माद्यैः स्तूयमानस्तु देवैर्देवो महेश्वरः । प्रजापतिसुवाचेदं देवानां ष्व भयं महत् ॥ १ ॥  
भो देवाः स्वागतं चोऽस्तु ब्रूत यद् चो मनोगतम् । तावदेव प्रयच्छामि नास्त्यदेयं भया हि चः ॥ २ ॥  
युष्माकं नितरां शं वै कर्त्ताहं विवुर्धर्षभाः । चरामि सहदत्युग्रं यज्ञापि परमं तपः ॥ ३ ॥  
विद्विष्टा चो भम द्विष्टाः कष्टाः कष्टपराकमाः । तेयामभावः सम्पाद्यो युष्माकं भव एव च ॥ ४ ॥  
एवमुक्तास्तु देवेन प्रेमणा सम्भ्रहकाः सुरा । सद्माहुर्महाभागं भागार्हाः सर्वं एव ते ॥ ५ ॥  
भगवंस्तैस्तपस्तप्तं रौद्रं रौद्रपराकमैः । असुरैवेध्यमानाः स्म वयं त्वां शरणं गताः ॥ ६ ॥  
मयो नाम दितेः पुत्रत्विनेव कलहप्रियः । त्रिपुरं येन तद्दुर्गं कृतं पाण्डुरगोपुरम् ॥ ७ ॥  
तदाश्रित्य पुरं दुर्गं दानवा घरनिर्भयाः । वाधन्तेऽसान् महादेव प्रेष्यमस्त्वामिनं यथा ॥ ८ ॥  
उद्यानानि च भन्नानि नन्दनादीनि यानि च । घराश्वाष्टसरसः सर्वा रम्भाद्या दनुजैर्हताः ॥ ९ ॥  
इन्द्रस्य घात्याश्व गजाः कुमुदाज्ञनवामनाः । ऐरावताद्यापहृता देवतानां महेश्वर ॥ १० ॥  
ये चेन्द्ररथमुख्याश्व हरयोऽपहृतासुरैः । जाताश्व दानवानां ते रथयोग्यास्तुरंगमाः ॥ ११ ॥  
ये रथा ये गजाइचैव याः स्त्रियो चसु यज्ञ तः । तत्रो व्यपहृतं दैत्यैः संशयो जीविते पुनः ॥ १२ ॥

सूतर्जी कहते हैं—ऋषियो ! ब्रह्मा आदि देवताओं-

द्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर देवाधिदेव महेश्वरने प्रजापति ब्रह्मासे यह कहा—‘अरे ! आप देवताओंको यह महान् भय कहाँसे आया ? देवगण ! आपलोगोंका सागत है । आपलोगोंके मनमें जो अभिलापा हो, उसे कहिये । मै उसे अवश्य प्रदान करूँगा; क्योंकि आपलोगोंके लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है । श्रेष्ठ देवगण ! मै सदा आपलोगोंका कल्प्याण ही करता रहता हूँ । यहोतक कि जो महान्, अत्यन्त उग्र एवं धोर तप करता हूँ, वह भी आपलोगोंके लिये ही करता हूँ । जो आपलोगोंसे त्रिहेप करते हैं, वे मेरे भी धोर शत्रु हैं । इसलिये जो आपलोगोंको कष्ट देनेवाले हैं, वे कितने ही धोर पराक्रमी क्यों न हों, मुझे उनका अन्त और आपका श्रेयः सम्पादन करना है ।’ महादेवजीद्वारा प्रेमपूर्वक इस प्रकार कहे जानेपर ब्रह्मासहित समस्त भाग्यशाली देवताओंने महाभाग शक्तरजीसे कहा—‘भगवन् । भयंकर पराक्रमी उन असुरोंने अत्यन्त भीषण तप विया है, जिसके प्रभावसे वे हमें कष्ट दे रहे हैं । इसलिये हमलोग आपकी शरणमें

आये हैं । त्रिलोचन ! ( आप तो जानते ही है ) दितिका पुत्र मय स्वभावतः कलहप्रिय है । उसने ही पीले रंगके फाटकवाले उस त्रिपुर नामक दुर्गका निर्माण किया है । उस त्रिपुरदुर्गका आश्रय लेकर दानव वरदानके प्रभावसे निर्भय हो गये हैं । महादेव ! वे हमलोगोंको इस प्रकार कष्ट दे रहे हैं, मानो अनाय नौकर हों । उन दानवोंने नन्दन आदि जितने उद्यान थे, उन सबको विनष्ट कर दिया तथा रम्भा आदि सभी श्रेष्ठ अप्सराओंका अपहरण कर लिया । महेश्वर ! वे इन्द्रके बाहन तथा दिशानां जुमुद, अक्षन, वामन और ऐरावत आदि गजेन्द्रोंको भी छीन ले गये । इन्द्रके रथमें जुतनेवाले जो मुख्य अश्व थे, उन्हे भी वे असुर हरण कर ले गये और अब वे धोड़े दानवोंके रथमें जोते जाते हैं । ( कहाँतक कहें ) हमलोगोंके पास जितने रथ, जितने हाथी, जितने स्त्रियों और जो कुछ भी धन था, हमारा वह सब दैत्योंने अपहरण कर लिया है और अब हमलोगोंके जीवनमें भी संदेह उत्पन्न हो गया है ॥ १-१२ ॥

त्रिनेत्रे एवमुक्तस्तु देवैः शक्तपुरोगमैः । उवाच देवान् देवेशो वरदो वृपवाहनः ॥ १३ ॥  
 व्यपगच्छतु घो देवा महद् दानवजं भयम् । तदहं त्रिपुरं धर्ष्ये कियतां यद् ग्रीष्मि तत् ॥ १४ ॥  
 यदीच्छथ मया दग्धुं तत्पुरं सहदानवम् । रथमौपयिकं मत्यं सज्जयध्वं किमास्यते ॥ १५ ॥  
 दिग्बाससा तथोक्तस्ते सपितामहकाः सुराः । तथेत्युक्त्वा महादेवं चकुस्ते रथमुक्तम् ॥ १६ ॥  
 धरां कृवरकौ द्वौ तु रुद्रपार्श्वचरावृभौ । अधिष्ठानं शिरो मेरोरक्षो मन्दर एव च ॥ १७ ॥  
 चकुश्यन्दं च सूर्यं च चक्रं काञ्चनराजते । कृष्णपक्षं शुक्लपक्षं पक्षद्वयमपीश्वराः ॥ १८ ॥  
 रथनेमिद्यं चकुर्देवा ब्रह्मपुरस्सराः । आदिद्यं पक्षयन्त्रं यन्त्रमेताश्च देवताः ॥ १९ ॥  
 कम्बलाश्वतराभ्यां च नागाभ्यां समवेष्टितम् । भार्गवश्चाङ्गिराइचैव बुधोऽङ्गारक एव च ॥ २० ॥  
 शनैश्चरस्तथा चात्र सर्वे ते देवसत्तमाः । चर्ष्णं गगनं चकुश्यारुपं रथस्य ते ॥ २१ ॥  
 कृतं द्विजिह्नयनं त्रिवेणुं शातकौमिकम् । मणिमुकेन्द्रनीलैश्च वृतं ह्यष्टमुखैः सुरैः ॥ २२ ॥

इन्द्र आदि देवताओद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर त्रिनेत्रधारी, वरदायक, वृपवाहन, देवेश्वर शंकरने देवताओंसे कहा—‘देवगण ! अब आपलोगोंका दानवोंसे उत्पन्न हुआ महान् भय दूर हो जाना चाहिये । मैं उस त्रिपुरको जला डालूँगा, किंतु मैं जो कह रहा हूँ, वैसा उपाय कीजिये । यदि आपलोग मेरेद्वारा दानवोंसहित उस त्रिपुरको जला देनेकी इच्छा रखते हैं तो मेरे लिये समस्त साधनोंसे सम्पन्न एक रथ सुसज्जित कीजिये । अब देर मत कीजिये ।’ दिग्बासा शंकरजीद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर ब्रह्मासहित उन देवताओंने महादेवजीसे ‘वृहत् अच्छा’ कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली । फिर तो वे एक उत्तम रथका निर्माण करनेमें लग गये । उन्होंने पृथ्वीको रथ, रुद्रके ढो पार्श्वचरोको,

दोनों कूवर मेरुको रथका शिरःस्थान और मन्दरको भुरा बनाया । सूर्य और चन्द्रमा रथके सोने-चाँदीके दोनों पहिये बनाये गये । ब्रह्मा आदि ऐश्वर्यशाली देवोंने शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष—दोनोंसे रथकी दोनों नेमियों बनायीं । देवताओंने कम्बल और अश्वतर नामक नागोंसे परिवेष्टित कर दोनों बगलके पक्ष-न्यन्त्र बनाये । शुक्र, वृहस्पति, बुध, मङ्गल तथा शनैश्चर—ये सभी देवतेषु उसपर विराजित हुए । उन देवताओंने गगन-मण्डलको रथका सौन्दर्यशाली वर्णय बनाया । सपेक्षि नेत्रोंसे उसका त्रिवेणु बनाया गया, जो सुवर्ण-सा चमक रहा था । वह मणि, मुक्ता और इन्द्रनील मणिके समान आठ प्रधान देवताओंसे शिरा था ॥ १३-२२ ॥

गङ्गा सिन्धुः शतद्रुश्च चन्द्रभासा इरावती । वितस्ता च विपाशा च यमुना गण्डकी तथा ॥ २३ ॥  
 सरस्वती देविका च तथा च सरयूरपि । एताः सरिद्विराः सर्वा वेणुसंज्ञा कृता स्ये ॥ २४ ॥  
 धृतराष्ट्राश्च ये नागास्ते च रथम्यात्मकाः कृताः । वासुकेः कुलजा ये च ये च रैवतवंशजाः ॥ २५ ॥  
 ते सर्पा दर्पसम्पूर्णाश्चापतूषेष्वनुनगाः । अवतस्युः शरा भूत्वा नानाजातिद्युभाननाः ॥ २६ ॥  
 सुरसा सरसा कद्विनिता शुचिरेव च । तृष्णा बुमुक्षा सर्वोद्या मृत्युः सर्वशमस्तथा ॥ २७ ॥  
 ब्रह्मवध्या च गोवध्या वालवध्या प्रजाभयाः । गदा भूत्वा शक्तयश्च तदा देवरथेऽभ्ययुः ॥ २८ ॥  
 युग्मं कृतयुग्मं चात्र चातुर्हंत्रप्रयोजकाः । चतुर्वर्णाः सलीलाश्च धूमृदुः स्वर्णकुण्डलाः ॥ २९ ॥  
 तद्युग्मं युग्मसंकाशं रथशार्णमें प्रतिष्ठितम् । धृतराष्ट्रेण नागेन बद्धं ललघता महत् ॥ ३० ॥  
 ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदस्तथापरः । वेदाश्वत्वार एवैते चत्वारस्तुरगाऽभवन् ॥ ३१ ॥  
 अन्नदानपुरोगमणि यानि दानानि कानिचित् । तान्यासन् चाजिनां तेषां भूषणानि सहस्रशः ॥ ३२ ॥

पद्मद्वयं तत्कश्च कर्कोटकधनं जयौ । नागा बभूतुरेवैते हयानां बालवन्धनाः ॥ ३३ ॥  
 ओङ्कारप्रभवास्ता वा मन्त्रयज्ञकर्तुक्रियाः । उपद्रवाः प्रतीकाराः पशुबन्धेष्यस्तथा ॥ ३४ ॥  
 यज्ञोपवाहान्येतानि तस्मिल्लोकरथे श्रुमे । मणिमुक्ताप्रवालैस्तु भूषितानि सहस्रशः ॥ ३५ ॥  
 प्रतोदोङ्कार एवासीत्तद्वयं च वषट्कृतम् । सिनीवाली कुहू राका तथा चानुमतिः श्रुभा ॥ ३६ ॥  
 योक्त्राण्यासांस्तुरङ्गाणामपसर्पणविग्रहाः ॥ ३७ ॥

कृष्णान्यथ च पीतानि इवेतमाज्ञिष्ठकानि च । अवदाताः पताकास्तु बभूवुः पवनेस्तिः ॥ ३८ ॥  
 ऋतुभिश्च कृतः पठभिर्धनुः संवत्सरोऽभवत् । अजरा ज्याभवज्ञापि साम्बिका धनुषो दद्वा ॥ ३९ ॥  
 कालो हि भगवान् रुद्रस्तं च संवत्सरं विदुः । तस्मादुमा कालरात्रिर्धनुषो ज्याजराभवत् ॥ ४० ॥  
 सर्गम् त्रिपुरं येन दग्धवान् स त्रिलोचनः । स इषुर्विष्णुसोमाग्नित्रिदैवतमयोऽभवत् ॥ ४१ ॥  
 आननं ह्यग्निरभवच्छल्यं सोमस्तमोनुदः । तेजसः समवायोऽयं चेषोस्तेजो रथाङ्गधृक् ॥ ४२ ॥  
 तस्मिश्च वीर्यवृद्धशर्यं वासुकिनीगपार्थिवः । तेजः संवसनार्थं वै मुमोचातिविषो विषम् ॥ ४३ ॥

गङ्गा, सिन्धु, शतहु, चन्द्रभागा, इरावती, वितस्ता, विषारा, यमुना, गण्डकी, सरस्वती, देविका तथा सरयू—इन सभी श्रेष्ठ नदियोंको उस रथमें वेणुस्थानपर नियुक्त किया गया । धृतराष्ट्रके बंशमें उत्पन्न होनेवाले जो नाग थे, वे बाँधनेके लिये रसी बने हुए थे । जो वासुकि और रैवतके बंशमें उत्पन्न होनेवाले नाग थे, वे सभी दर्पसे पूर्ण और शीघ्रगामी होनेके कारण नाना प्रकारके सुन्दर मुखवाले वाण बनकर धनुषके तरकसोंमें अवस्थित हुए । सरसे उग्र स्वभाववाली सुरसा, देवगुनी, सरमा, कद्म, चिनता, शुचि, लृषा, बुमुक्षा तथा सबका शमन करनेवाली मृत्यु, ब्रह्महत्या, गोहत्या, बालहत्या और प्रजाभय—ये सभी उस समय गदा और शक्तिका रूप धारण कर उस देवरथमें उपस्थित हुईं । कल्युगका जू़ा बनाया गया । चारुहृष्ट्र यज्ञके प्रयोजक लीलासहित चारों वर्ण स्वर्णमय कुण्डल हुए । उस युग-सदृश जू़ेको रथके शीर्षस्थानपर रखा गया और उसे बलवान् धृतराष्ट्र नागद्वारा कसकर बाँध दिया गया । ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अर्थवेद—ये चारों वेद चार घोड़े हुए । अन्नदान आदि जितने प्रमुख दान हैं, वे सभी उन घोड़ोंके हजारों प्रकारके आभूषण बने । पद्मद्वय, तत्कश, कर्कोटक, धनंजय—ये नाग उन घोड़ोंके बाल बाँधनेके लिये रसी हुए । ओंकारसे उत्पन्न होनेवाली मन्त्र,

यज्ञ और क्रतुरूप क्रियाएँ, उपद्रव, उनकी शान्तिके लिये प्रायश्चित्त, पशुबन्ध आदि इष्टियाँ, यज्ञोपवीत आदि संस्कार—ये सभी उस सुन्दर लोकरथमें शोभा-वृद्धिके लिये मणि, मुक्ता और मूँगेके रूपमें उपस्थित हुए । ओंकारका चाबुक बना और वषट्कार उसका अप्रभाग हुआ । सिनीवाली ( चतुर्दशीय अमा ), कुहू ( अमावास्याकी अविष्टारी देवी ), राका ( शुद्र पूर्णिमा तिथि ) तथा शुभदायिनी अनुमति ( प्रतिपदशुक्ला पूर्णिमा )—ये सभी घोड़ोंको रथमें जोतनेके लिये रसियाँ और बागडोर बर्नी । उसमें काले, पीले, इवेत और लाल रंगकी निर्मल पताकाएँ लगी थीं, जो वायुके बेगसे फहरा रही थीं । छहों ऋतुओंसहित संवत्सरका धनुष बनाया गया । अम्बिकादेवी उस धनुषकी कभी जीर्ण न होनेवाली सुदृढ़ प्रत्यञ्चा हुई । भगवान् रुद्र कालसरूप हैं । उन्हींको संवत्सर कहा जाता है, इसी कारण अम्बिकादेवी कालरात्रिरूपसे उस धनुषकी कभी न कटनेवाली प्रत्यञ्चा बर्नी । त्रिलोचन भगवान् शंकर जिस बाणसे अन्तर्भागसहित त्रिपुरको जलानेवाले थे, वह श्रेष्ठ बाण विष्णु, सोम, अग्नि—इन तीनों देवताओंके संयुक्त तेजसे निर्मित हुआ था । उस बाणका मुख अग्नि और फाल अन्यकारविनाशक चन्द्रमा थे । चक्रधारी विष्णुका तेज समूचे बाणमें व्याप्त था । इस

प्रकार वह बाण तेजका समन्वित रूप था । उस बाणपर स्थिरता के लिये अत्यन्त उग्र विष उगल दिया था नागराज वासुकि ने उसके पराक्रमकी वृद्धि एवं तेजकी ॥ २३—४३ ॥

कृत्वा देवा रथं चापि दिव्यं द्रिव्यप्रभावतः । लोकाधिपतिमभ्येत्य इदं वचनमनुवन् ॥ ४४ ॥  
 संस्कृतोऽयं रथोऽसाभिस्तव द्रानवशत्रुजित् । इदमापत्परित्राणं देवान् सेन्द्रपुरोगमान् ॥ ४५ ॥  
 तं गेष्ठशिखराकारं त्रैलोक्यरथसुचम्पम् । प्रशस्य देवान् साधिति रथं पद्यति शंकरः ॥ ४६ ॥  
 मुहुर्द्वया रथं साधु साक्षियुक्त्वा मुहुर्मुहुः । उवाच सेन्द्रानपरानमराधिपतिः स्वयम् ॥ ४७ ॥  
 यादशोऽयं रथः क्लृप्ते युध्याभिर्मम सत्त्वाः । ईश्वरो रथसम्पत्या यन्ता शीघ्रं विधीयताम् ॥ ४८ ॥  
 हत्युका देवदेवेन देवा विद्वा ईवेषुभिः । अवापुर्महतो चिन्तां कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ४९ ॥  
 महादेवस्य देवोऽन्यः को नाम सदृशो भवेत् । मुक्त्वा चकायुधं देवं सोऽन्यस्येषु समाधितः ॥ ५० ॥  
 धुरि युक्ता ईवोक्ताणो धटन्त इव पर्वतैः । निःश्वसन्तः सुराः सर्वे कथमेतदिति ब्रुवन् ॥ ५१ ॥  
 देवेष्वाह देवदेवो लोकनाथस्य धूर्गताम् । अहं सारथिरित्युक्त्वा जप्राहाशांस्ततोऽप्रजः ॥ ५२ ॥  
 ततो देवैः सगन्ध्यैः सिंहनादो महान् कृतः । प्रतोदहस्तं सम्प्रेक्ष्य व्रह्माणं सूततां गतम् ॥ ५३ ॥  
 भगवानपि विद्वेशो रथस्ये वै पितामहे । सदृशः सूत इत्युक्त्वा चाक्षरोह रथं हरः ॥ ५४ ॥  
 आरोहति रथं देवे ह्यश्वा हरभस्तुराः । जानुभिः पतिता भूमौ रजोग्रासश्च प्रासितः ॥ ५५ ॥  
 देवो द्वप्नाय वेदांस्तानभीरुप्रहयान् भयात् । उज्जाहार पितनार्तीन् सुपुत्र इव दुःखितान् ॥ ५६ ॥  
 ततः सिंहरबो भूयो व्रह्म रथभैरवः । लयशब्दश्च देवानां सम्भूवार्णवोपमः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार देवगण द्रिव्य प्रभावसे उस द्रिव्य रथका निर्माण कर लोकाधिपति शंकरके निकट जाकर इस प्रकार बोले—‘दानवरूप शत्रुओंके विजेता भगवन् ! हमलोगोंने आपके लिये इस रथकी रचना की है । यह इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंकी आपत्तिसे रक्षा करेगा । सुमेरुगिरिके शिखरके समान उस उत्तम त्रैलोक्यरथको देखकर भगवान् शंकरने उसकी प्रशंसा करके देवताओंकी प्रशंसा की और पुनः उस रथका निरीक्षण करने लगे । वे वार-वार रथके प्रत्येक भागको देखते और वार-वार उसकी प्रशंसा करते थे । तत्पश्चात् देवताओंके अधीश्वर रथं भगवान् शंकरने इन्द्रसहित देवताओंसे कहा—‘देवगण ! आपलोगोंने जिस प्रकार मेरे लिये रथकी सारी सामग्रियोंसे युक्त इस रथका निर्माण किया है, इसीकी मर्यादाके अनुकूल शीघ्र ही किसी सारणिका भी विधान कीजिये ।’ देवाधिदेव शंकरके ऐसा कहनेपर देवगण ऐसे व्याकुल हो गये, मानो वे वाणोंसे शीघ्र दिये गये हो । उन्हें वर्षी चिन्ता हड्डे । वे कहने लो कि अब क्या किया

जाय । भला, चक्रधारी भगवान् विष्णुके अतिरिक्त दूसरा कौन देवता महादेवजीके सदृश हो सकता है, किंतु वे तो उनके बाणपर स्थित हो चुके हैं । यह सोन्चकर जैसे गाड़ीमें जुते हुए बैल पर्वतोंसे टकरा जानेपर हँफने लाते हैं, वैसे ही सभी देवता लम्बी सॉस लेने लगे और कहने लगे कि यह कार्य कैसे सिद्ध होगा ? इतनेमें ही उन देवताओंके बीच देवदेव अप्रज व्रह्म बोल उठे—‘सारथि मैं होऊँगा’ ऐसा कहकर उन्होंने लोकनाथ शंकरके रथमें जुते हुए घोड़ोंकी बांदोर पकड़ ली । उस समय व्रह्मको हाथमें चाचुक लिये हुए सारथिके स्थानपर स्थित देखकर गन्धर्वोंसहित देवताओंने महान् सिंहनाद किया । तदनन्तर पितामह व्रह्मको रथपर स्थित देखकर विश्वेश्वर भगवान् शंकर ‘उपयुक्त सारथि मिला’ ऐसा कहकर रथपर आखड़ हड्डे । भगवान् शंकरके रथपर चढ़ते ही घोड़े उनके भारसे व्याकुल हो गये । वे घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़े और उनके मुखमें धूल भर गयी । इस प्रकार जब

शंकरजीने देखा कि अश्वरूपधारी वेद भयवश भूमिपर तत्पश्चात् रथकी भयंकर धरधराहटके साथ सिंहनाद गिर पड़े हैं, तब उन्होंने उन्हें उसी प्रकार उठाया, जैसे होने लगा। देवगण समुद्रकी गर्जनके समान जय-सुपुत्र आर्त एवं दुःखी पितरोंका उद्धार करता है। जयकार करने लगे ॥ ४४-५७ ॥

तदोङ्कारमयं गृह्ण प्रतोदं वरदः प्रयुः। स्वयम्भूः प्रययौ वाहाननुभव्य यथाजवम् ॥ ५८ ॥  
 प्रसमाना इचाकाशं मुष्णन्त इव मंदिनीम्। मुखेभ्यः ससुजुः श्वासानुच्छवसन्त इवोरगाः ॥ ५९ ॥  
 स्वयम्भुवा चोद्यमानाश्चोदितेन कपर्दिना। व्रजन्ति तेऽश्वा जवनाः क्षयकाल इवानिलाः ॥ ६० ॥  
 ध्वजोच्छ्रुयविनिर्माणे ध्वजयष्टिमनुक्तमाम्। आक्रम्य नन्दीबृपमस्तस्यौ तस्मिन्निवैच्छया ॥ ६१ ॥  
 भार्गवाङ्गिरसौ देवौ दण्डहस्तौ रविश्वभौ। रथद्वक्रे तु रक्षेते रुद्रस्य प्रियकाङ्गिणौ ॥ ६२ ॥  
 शेषश्च भगवान् लगोऽनन्तोऽनन्तकरोऽरिणाम्। शरहस्तो रथं पाति शयनं ब्रह्मणस्तदा ॥ ६३ ॥  
 यमस्तूर्णं समास्थाय महिषं चातिदारुणम्। द्रविणाधिपतिर्व्यालं सुराणामधिपो द्विपम् ॥ ६४ ॥  
 मयूरं शतचन्द्रं च कूजन्तं किनरं वथा। गृह आस्थाय वरदो जुगोप तं रथं पितुः ॥ ६५ ॥  
 नन्दीश्वरश्च भगवाञ्चूलमादाय दीप्तिमान्। पृष्ठतश्चापि पार्श्वभ्यां लोकस्य क्षयकुद् यथा ॥ ६६ ॥  
 प्रमथाश्चाग्निवर्णभाः साग्निज्वाला इवाचलाः। अनुजरमू रथं शार्वं नक्ता इव महार्णवम् ॥ ६७ ॥  
 भगुर्भरद्वाजवस्तिष्ठानौतमाः क्रनुः पुलस्त्यः पुलहस्तपोधनाः।

मरीचिरत्रिभगवानथाङ्गिराः पराशरागस्त्यमुखा महर्षयः ॥ ६८ ॥

हरमजितमजं प्रतुष्टुवृव्यनविशेषैर्विचित्रभूषणैः ।

रथस्त्रिपुरे सकाञ्चनाचलो व्रजति सपक्ष इवाद्विरम्यरे ॥ ६९ ॥

करिगिरिरविमेघसंनिभाः सजलपयोदनिनादनादिनः ।

प्रमथगणाः परिवार्य देवगुप्तं रथमभितः प्रयुः स्वदर्पयुक्ताः ॥ ७० ॥

मकरतिमितिर्मिगिलावृतः प्रलय इवातिसमुद्धतोऽर्णवः ।

व्रजति रथवरोऽतिभास्वरो ह्यशनिनिपातपयोदनिःस्वनः ॥ ७१ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे रथप्रयाणं नाम त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽथायः ॥ १३३ ॥

तदनन्तर सामर्थ्यशाली वरदायक ब्रह्मा औंकारमय शत्रुओंका समूल विनाश करनेवाले अनन्त भगवान् चाबुकको हाथमें लेकर घोड़ोंको पुचकारते हुए पूर्ण वेगसे शेषनाग हाथमें ब्राण धरण कर रथकी तथा ब्रह्माके आगे बढ़े। फिर तो वे घोड़े पृथ्वीको अपने साथ समेटते तथा आकाशको ग्रसते हुएकी तरह बड़े वेगसे दौड़ने लगे। उनके मुखोंसे ऐसे दीर्घ निःश्वास निकल रहे थे, मानो फुफकारते हुए सर्प हों। शंकरजीकी प्रेरणासे ब्रह्माद्वारा हाँके जाते हुए वे घोड़े प्रलयकालिक वायुकी तरह अत्यन्त वेगसे दौड़ रहे थे। शिवजीकी इच्छासे उस रथमें ध्वजको ऊँचा उठानेमें निपुण नन्दी वृषभ उस अनुपम ध्वजयष्टिके ऊपर स्थित हुए। सूर्यके समान प्रभावशाली शुक और वृहस्पति—ये दोनों देवता हाथमें दण्ड धारण करके रुद्रका प्रिय करनेकी इच्छासे रथके पहियोंकी रक्षा कर रहे थे। उस समय

शत्रुओंका समूल विनाश करनेवाले अनन्त भगवान् शेषनाग हाथमें ब्राण धरण कर रथकी तथा ब्रह्माके आसनकी रक्षामें जुटे हुए थे। यमराज तुरत अपने अत्यन्त भयंकर भैसेपर, कुवेर सौंपपर और देवराज इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़कर आगे बढ़े। वरदायक गुह कार्तिकेय सैकड़ों चन्द्रवाले तथा किंनरकी भाँति कूजते हुए अपने मयूरपर सवार होकर पिताके उस रथकी रक्षा कर रहे थे। तेजस्वी भगवान् नन्दीश्वर शूल लेकर रथके पीछेसे दोनों पार्श्वभागोंकी रक्षा करते थे। उस समय वे ऐसा प्रतीत होते थे, मानो लोकका विनाश कर देना चाहते हों। अग्निके समान कान्तिमान् प्रमथगण, जो अग्निकी लपटोंसे युक्त पर्वत-सदृश दीख रहे थे, शंकरजीके रथके पीछे चलते हुए ऐसे लगते

ये जैसे महासागरमें नाकगण तैर रहे हों। मृगु, भरद्वाज, वसिष्ठ, गौतम, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पराशर, अगस्त्य—ये सभी तपस्वी एवं ऐश्वर्यशाली महर्पि विचित्र छन्दालंकारोंसे विभूषित उत्कृष्ट वचनोंद्वारा अजन्मा एवं अजेय शंकरकी स्तुति कर रहे थे। सुमेरुगिरिके सहयोगसे सम्पन्न हुआ वह रथ आकाशमें विचरनेवाले पंखधारी पर्वतकी तरह रहा था। हाथी, पर्वत, सूर्य और

मेघके समान कान्तिवाले प्रमथगण जलवर वादलकी भाँति गर्जना करते हुए वडे गर्वके साथ देवताओंद्वारा सब थोरसे सुरक्षित उस रथके पीछे-पीछे चल रहे थे। वह अन्यन्त उदीप श्रेष्ठ रथ प्रलयकालमें मकर, तिमि(एक प्रकारके महामत्स्य, और तिमिगिलों (उसे निगलनेवाले महामत्स्य)से ब्याप्त भयंकर रूपसे उमड़े हुए समुद्रकी तरह आगे बढ़ रहा था। उससे वज्रपातकी तरह गडगडाहट और त्रिपुरकी ओर बढ़ रहा था। हाथी, पर्वत, सूर्य और वादलकी गर्जनाके सद्वा शब्द हो रहा था ॥५८-७१॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाह-प्रसङ्गमें रथप्रयाण नामक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३३ ॥

## एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय

देवताओंसहित शंकरजीका त्रिपुरपर आक्रमण, त्रिपुरमें देवर्पि नारदका आगमन  
तथा युद्धार्थ असुरोंकी तैयारी

सूत उवाच

पूज्यमाने रथे तस्मिल्लोकैद्वे रथे स्थिते । प्रामयेषु नदत्सूर्यं प्रवदत्सु च साधिति ॥ १ ॥  
ईश्वरस्वरघोषेण नर्दमाने महाबृषे । जयत्सु चिप्रेषु तथा गर्जत्सु तुरगेषु च ॥ २ ॥  
रणाङ्गणात् समुत्पत्य देवर्पिनरदः प्रभुः । कान्त्या चन्द्रोपमस्तूर्णं विपुरं पुरमागतः ॥ ३ ॥  
ओत्पातिकं तु दैत्यानां त्रिपुरे वर्तते ध्वन्म् । नारदश्वाव भगवान् प्राण्डुर्भूतस्तपोधनः ॥ ४ ॥  
आगतं जलदाभासं समेताः सर्वदानवाः । उत्सथुर्नारदं द्वापा अभिवादनवादिनः ॥ ५ ॥  
तमध्येण च पाद्येन मधुपक्षेण चेश्वराः । नारदं पूजयामासुर्वह्नाणमिव वासवः ॥ ६ ॥  
तेषां स पूजां पूजार्हाः प्रतिगृह्य तपोधनः । नारदः सुखमासीनः काञ्चने परमासने ॥ ७ ॥  
मयस्तु सुखमासीने नारदे नारदोद्भवे । यथार्ह दानवैः सार्धमासीनो दानवाधिषः ॥ ८ ॥  
आसीनं नारदं प्रेक्ष्य मयस्त्वथ महासुरः । अव्रीदि वचनं तुष्टे हृष्टरोमानेक्षणः ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋग्यो ! इस प्रकार उस लोक-पूजित रथपर आखड़ होकर जब महादेवजी त्रिपुरपर आक्रमण करनेके लिये प्रस्थित हुए, उस समय प्रमथगण ‘ठीक है, ठीक है’ ऐसा कहते हुए उच्च स्वरसे सिंहनाद करने लगे। महान् वृत्तम् नन्दी भी शंकरजीके सद्वा स्वरमें गर्जना करने लगा। यूथ-के-यूथ विष-जय-जयकार वोलने लगे तथा घोड़े हींसने लगे। इसी समय चन्द्र-तुल्य कान्तिवाले सामर्थ्यशाली देवर्पि नारद युद्धस्थलसे उछल-

कर तुरंत त्रिपुर नामक नगरमें जा पहुँचे। दैत्योंके उस त्रिपुरमें निश्चितरूपसे उत्पात हो रहे थे। वहाँ तपस्वी भगवान् नारद सहसा प्रकट हो गये। श्वेत मेघकी-सी प्रभावाले नारदजीको आया हुआ देखकर सभी दानव एक साथ अभिवादन करते हुए उठ खड़े हुए। तत्पश्चात् उन ऐश्वर्यशाली दानवोंने पाद, अर्ध और मधुपर्कद्वारा नारदजीकी उसी प्रकार पूजा की, जैसे इन्द्र ब्रह्मकी अर्चना करते हैं। तब पूजनीय

तपसी नारदजी उनकी पूजा स्थीकार कर स्वर्णनिर्मित श्रेष्ठ आसनपर सुखपूर्वक विराजमान हुए। इस प्रकार ब्रह्मपुत्र नारदके सुखपूर्वक बैठ जानेपर दानवराज मय भी सभी दानवोंके साथ यथायोग्य आसनपर बैठ गया।

औत्पातिकं पुरेऽस्माकं यथा नन्यत्र कुत्रचित् । वर्तते वर्तमानङ्ग वद त्वं हि च नारद ॥ १० ॥  
 दद्यन्ते भयदाः स्वप्ना भज्यन्ते च ध्वजाः परम् । विना च वायुना केतुः पतते च तथा भुवि ॥ ११ ॥  
 अद्वालकाश्च नृत्यन्ते सप्ताकाः सगोपुराः । हिंस हिंसेति श्रूयन्ते गिरश्च भयदाः पुरे ॥ १२ ॥  
 नाहं विभेदि देवानां सेन्द्राणामपि नारद । सुकृत्वैकं वरदं स्थाणुं भक्ताभयकरं हरम् ॥ १३ ॥  
 भगवन् नास्त्यविदितमुत्पातेषु तवानघ । अनागतमतीतं च भवाज्जानाति तत्त्वतः ॥ १४ ॥  
 तदेतत्त्वो भयस्थानमुत्पाताभिनिवेदितम् । कथयस्व सुनिश्चेष्ट प्रपञ्चस्य तु नारद ॥ १५ ॥  
 इत्युक्तो नारदस्तेन मयेनामयवर्जितः ॥ १६ ॥

मयने नारदजीसे कहा—‘नारदजी ! आप तो (भूत-भव्य और) वर्तमानकी सारी बातोंके ज्ञाता हैं, अतः आप यह बतलाइये कि हमारे पुरमें जैसा उत्पात हो रहा है, वैसा सम्भवतः अन्यत्र कहीं भी नहीं होता होगा। (ऐसा क्यों हो रहा है ? ) यहाँ भयदायक स्वप्न दीख पड़ते हैं। ध्वजाएँ अकस्मात् दूटकर गिर रही हैं। वायुका स्पर्श न होनेपर भी पताकाएँ पृथ्वीपर गिर रही हैं। पताकाओं और फाटकों-सहित अद्वालिकाएँ नाचती-सी (काँपती-सी) दीखती हैं। नगरमें ‘मार डालो, मार डालो’ ऐसे भयावने शब्द सुननेमें आ रहे हैं। (इतना होनेपर भी) नारदजी ! भक्तोंको

इस तरह नारदजीको वहाँ सुखपूर्वक बैठे देखकर महासुर मयको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह हर्षसे रोमाञ्चित हो उठा, उसके मुख एवं नेत्र प्रसन्नतासे खिल उठे, उसने नारदजीसे ये बातें कहीं ॥ १-९ ॥

अभय प्रदान करनेवाले स्थाणुखरूप वरदायक एकमात्र शंकरजीको छोड़कर मुझे इन्द्रसहित समस्त देवताओंसे भी कुछ भय नहीं है। निष्पाप भगवन् ! इन उपद्वेषोंके विषयमें आपसे कुछ छिपा तो है नहीं; क्योंकि आप तो (पूर्वोक्त वर्तमानके अतिरिक्त) भूत और भविष्यके भी यथार्थ ज्ञाता हैं। मुनिश्रेष्ठ ! ये उत्पात हमलोगोंके लिये भयके स्थान बन गये हैं, जिन्हें मैने आपसे निवेदित कर दिया है। नारदजी ! मै आपके शरणागत हूँ, कृपया इसका कारण बतलाइये ।’ इस प्रकार मय दानवने अविनाशी नारदजीसे प्रार्थना की ॥ १०-१६ ॥

### नारद उत्तर

#### श्रणु दानव तत्त्वेन भवन्त्यौत्पातिका यथा ।

धर्मेति धारणे धातुर्माहात्म्ये चैव पठ्यते । धारणाच्च महत्वेन धर्म एष निष्पत्यते ॥ १७ ॥  
 स इष्टप्रापको धर्म आचार्यैरुपदिश्यते । इतरश्चानिष्टफलं आचार्यैर्नोपदिश्यते ॥ १८ ॥  
 उत्पथान्मार्गमागच्छेन्मार्गाच्चैव विमार्गताम् । विनाशस्तस्य निर्देश्य इति वेदविदो विदुः ॥ १९ ॥  
 स स्वधर्म रथारुदः सहैभिर्मत्तदानवैः । अपकारिषु देवानां कुरुषे त्वं सहायताम् ॥ २० ॥  
 तदेतान्येवमादीनि उत्पातवेदितानि च । वैनाशिकानि दद्यन्ते दानवानां तथैव च ॥ २१ ॥  
 एष रुद्रः समास्थाय महालोकमयं रथम् । आयाति त्रिपुरं हन्तुं मय त्वामसुरानपि ॥ २२ ॥  
 स त्वं महौजसं नित्यं प्रपद्यस्व महेश्वरम् । यास्यसे सह पुत्रेण दानवैः सह मानद ॥ २३ ॥  
 इत्येवमावेद्य भयं दानवोपस्थितं महत् । दानवानां पुनर्देवो देवेशपदमागतः ॥ २४ ॥

(तब) नारदजी बोले—दानवराज ! जिस कारण ये उत्पात हो रहे हैं, उन्हें यथार्थरूपसे बतला रहा हूँ, सुनो। ‘धू’ धातु धारण-पोषण और महत्वके अर्थमें

प्रयुक्त होती है। इसी धातुसे धर्म शब्द निष्पन्न हुआ है, अतः महत्वपूर्वक धारण करनेसे यह शब्द धर्म कहलाता है। आचार्यगण इष्टकी प्राप्ति करनेवाले इसी धर्मका

उपदेश करते हैं। इसके विपरीत अर्थम् अनिष्ट फल देनेवाला है, अतः आचार्यगण उसे प्रहण करनेका अदेश नहीं देते। वेदज्ञोका कथन है कि मनुष्यको उन्मार्गसे सुमार्गपर आना चाहिये, क्योंकि जो सुमार्गसे उन्मार्गपर चलते हैं, उनका विनाश तो नियत ही है। तुम इन उन्मत्त दानवोंके साथ महान् अर्थमेंके रथपर आखड़ होकर देवताओंका अपकार करनेवालोंकी सहायता दरते हो। इसलिये इन सभी उत्पातों द्वारा सूचित अपशकुत दानवोंके विनाशके सूचक हैं। मय !

भावान् रुद्र महालोकमय रथपर सवार होकर त्रिमुखा, तुम्हारा और रामस्तु असुरोंका भी विनाश करनेके लिये आ रहे हैं। इसलिये मानव ! ( तुम्हारे लिये यही अद्या होगा कि ) तुम महान् औजर्वा। परं अविनाशी महंश्वरकी शरण प्रहण भर लो, अन्यथा तुम पुत्रों और दानवोंके साथ यमनेमेंके पथिक बन जाओगे। इस प्रकार दंतर्षि नारद दानवोंको उनके ऊपर आये हुए महान् भयकी सूचना देवता पुनः देवेश शंकरजीके पास लौट आये ॥ १७-२४ ॥

नारदे तु मुनौ यांते मयो दानवनायकः । शूरसम्मतमित्येवं दानवानाह दानवः ॥ २५ ॥  
 शूराः स्य जातपुत्राः स्य कृतकृत्याः स्य दानवाः । युध्यध्वं दैवतैः सार्थं कर्त्तव्यं चापि नो भयम् ॥ २६ ॥  
 जित्वा वयं भविष्याम् स्वेऽमरसम्भास्तदः । देवांश्च सेन्द्रज्ञान् हत्या लोकान् भोक्ष्यामहेऽनुराः ॥ २७ ॥  
 अह्वालकेषु च तथा तिष्ठध्वं शस्त्रपाणयः । दंशिता युद्धसज्जाश्च तिष्ठध्वं प्रोद्यतायुधाः ॥ २८ ॥  
 पुराणि व्रीणि चैतानि यथास्थानेषु दानवाः । तिष्ठध्वं लघ्ननीयानि भविष्यन्ति पुराणि च ॥ २९ ॥  
 नभोगतस्तथा शूरा देवता विदिता हि च । ताः प्रयत्नेन वार्यांश्च विदार्यांश्चैव सायकः ॥ ३० ॥

इनि	दनुतनयान्मयस्तथोक्त्वा	सुरगगदारणदारणे	घर्वांसि ।
	युवतिजनविषण्णमानसं	तत्त्विपुरपुरं	सहसा विवेश राजा ॥ ३१ ॥
अथ	रजतविशुद्धभावभावो	भवमभिपूज्य	दिगम्बरं सुगीर्भिः ।
	शरणसुपजगाम	देवदेवं	मदनार्यन्धकयसदेहघातम् ॥ ३२ ॥
	मयमभयपदैषिणं	प्रपन्नं	किल वुदोध तृनीयदंसनेत्रः ।

तद्भिमतसदात् ततः शशाङ्की स च किल निर्भय एव दानवोऽभूत् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमातस्ये महापुराणे त्रिपुरदा हे नारदगमनं नाम चतुर्तिंशदधिकशततमोऽच्यायः ॥ १३४ ॥

इधर नारद मुनिके चले जानेपर दानवराज मयदानवने ( जहाँ उपस्थित ) सभी दानवोंसे इस प्रकार दूर-सम्मत वचन कहना आरम्भ किया—‘दानवो ! तुमलोग शूर-वीर हो, पुत्रवान् हो और ( जीवनमें सुखका उपभोग करके ) कृतकृत्य हो चुके हो, अतः देवताओंके साथ डटकर युद्ध करो। इसमें तुमलोगोंको किसी प्रकारका भय नहीं मानना चाहिये। असुरो ! देवताओंको जीतकर हमलोग देव-समाके समासद हो जायेंगे, अर्थात् देव-समा अपने अधिकारमें आ जायगी। तब इन्द्रसहित देवताओंका वध करके हमलोग लोकोंका उपभोग करेंगे। तुमलोग युद्धकी साज-सज्जासे विभूषित हो वक्च धारण कर लो और हयियार लेकर तैयार हो जाओ तथा हाथमें शश

धारण कर अद्वालियाओपर चढ़ जाओ। दानवो ! तुमलोग इन तीनों पुरोपर यथास्थान ( सज्ज छोकर ) बैठ जाओ; क्योंकि देवगण इन तीनों पुरोपर आक्रमण करेंगे। शूर्योरो ! यदि देवता आकाशमार्गसे धाना करें तो तुमलोग तो उन्हें पहचानते ही हो, तुरंत उन्हें प्रयत्नपूर्वक रोक दो और वाणोंके प्रहारसे विदीर्घ कर दो।’ इस प्रकार दानवराज मय दनु-पुत्रोंसे सुराणहसी हायियोंको रोकनेके लिये बातें बताकर सहसा उस त्रिपुर-पुरमें प्रविष्ट हुआ, जहाँकी खियोका मन भयके कारण उद्दिग्न हो उठा था। तदनन्तर वह चौंदीके समान निर्मल भावसे भावित होकर सुन्दर

वाणीद्वारा दिगम्बर भगवान् शंकरकी पूजा करके उन कामदेवके शत्रु तथा अन्यक और दक्ष-यज्ञके विनाशक देवदेवेश्वरकी शरणमें गया । यद्यपि शंकरजीके तृतीय नेत्रमें उद्दीप्त अग्निका वास है, तथापि उन चन्द्रशेखरके

ध्यानमें यह बात न आयी कि यह मय दानव शरणागत होकर अभयपद प्राप्त करना चाहता है, अतः उन्होंने उसे अभीष्ट वरदान दे दिया, जिससे वह दानव निर्भय हो गया और आगसे भी सुरक्षित रहकर जीवित बच गया ॥२५-३३॥

इस प्रकार श्रीमत्स्वमहापुराणके त्रिपुरदाह-प्रसङ्गमें नारदगमन नामक एक सौ चौतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३४ ॥

## एक सौ चौतीसवाँ अध्याय

शंकरजीकी आज्ञासे इन्द्रका त्रिपुरपर आक्रमण, दोनों सेनाओंमें भीषण संग्राम, विद्युत्मालीका वध, देवताओंकी विजय और दानवोंका युद्ध-विमुख होकर त्रिपुरमें प्रवेश

सूत उचाच

ततो रणे देवबलं नारदोऽभ्यगमत् पुनः । आगत्य चैव त्रिपुरात् सभायामास्थितः स्वयम् ॥ १ ॥  
इलावृतमिति ख्यातं तद्वर्णं विस्तृतायतम् । यत्र यज्ञो वलेवृत्तो वलिर्यत्र च संयतः ॥ २ ॥  
देवानां जन्मभूमिर्या त्रिपु लोकेषु विश्रुता । विवाहाः क्रतवश्चैव जातकर्मादिकाः क्रियाः ॥ ३ ॥  
देवानां यत्र वृत्तानि कन्यादानानि यानि च । रेमे नित्यं भवो यत्र सहायैः पार्षदैर्गणैः ॥ ४ ॥

लोकपालाः सदा यत्र तस्युमेंहगिरौ यथा ।

मधुपिङ्गलनेत्रस्तु चन्द्रावयवभूपणः । देवानामधियं प्राह गगपांश्च महेश्वरः ॥ ५ ॥  
धासवैतदरीणां ते त्रिपुरं परिदृश्यते । विमानैश्च पताकाभिर्वैजैश्च समलङ्घतम् ॥ ६ ॥  
इदं वृत्तमिदं ख्यातं वहिवद् भृशतापनम् । एते जना गिरिग्रह्याः सकुण्डलकिरीटिनः ॥ ७ ॥  
प्राकारगोपुराट्टेषु कक्षान्ते दानवाः स्थिताः । इमे च तोयदाभासा दनुजा विकृताननाः ॥ ८ ॥

निर्गच्छन्ति पुरो दैत्याः सायुधा विजयैषिणः ॥ ९ ॥

स त्वं सुरशतैः सार्थं ससहायो वरायुधः । सुहृद्धिर्मामकैर्भृत्यैर्व्यापादय महासुरान् ॥ १० ॥  
अहं च रथवर्णेण निश्चलाचलवत्स्थितः । पुरः पुरस्य रन्धार्थी स्थास्यामि विजयाय वः ॥ ११ ॥  
यदा तु पुष्ययोगेन एकत्वं स्थास्यते परम् । तदेतन्निर्दिव्यामि शरेणैकेन वासव ॥ १२ ॥

स्तुतजी कहते हैं—ऋषियो ! तदनन्तर नारदजी तरह सदा निवास करते हैं, इसी स्थानपर जिनके त्रिपुरसे लौटकर पुनः युद्धस्थलमें देवताओंकी सेनामें सम्मिलित हो गये । वे स्वयं देव-सभामें उपस्थित हुए । इलावृत नामसे विद्यात विस्तृत वर्ष, जहाँ वलिका यज्ञ सम्पन्न हुआ था तथा जहाँ वलि बौघे गये थे, तीनों लोकोंमें देवताओंकी जन्मभूमिकं रूपमें प्रसिद्ध है । उसी इलावृतमें देवताओंके जातकर्म आदि संस्कार तथा यज्ञ और कन्यादान आदि कर्म सम्पन्न हुए हैं, यहाँ भगवान् शंकर अपने पार्षदगणोंको साथ लेकर नित्य विहार करते हैं, यहाँ लोकपालगण मेरुगिरिकी

नेत्र मधुके समान पीले रंगके हैं तथा जो द्वितीयाके चन्द्रमाको भूपणरूपमें धारण करते हैं, उन्हीं भगवान् महेश्वरने देवराज इन्द्र और अपने गणेश्वरोंसे इस प्रकार कहा—‘इन्द्र ! तुम्हारे शत्रुओंका यह त्रिपुर दिखायी पड़ रहा है । यह विमानों, पताकाओं और अंजोंसे सुशोभित है । यह सुदृढ़ है तथा इसके विषयमें ऐसी प्रसिद्धि है कि यह अग्निकी तरह अन्यन्त तापश्चायक है । इसके निवासी दानव किरीट-कुण्डल धारण किये हुए पर्वतके समान दीख रहे हैं । इन दानवोंकी अङ्ग-कान्ति

वादलकी-सी है और इनके मुख टेहे-मेहे हैं । ये सभी बह मर इन महासुरोंका संहार करो । मैं इस श्रेष्ठ रथपर परकोटो, फाटकों और अद्वालिकाओंपर तथा कक्षान्तरमें स्थित हैं । ( वह देखो ) वे सभी दैत्य विजयकी निश्चल पर्वत ती तरह स्थित रहकर तुम्हाँसी विजयक अभिलापसे हवियारोंसे सुसज्जित हो नगरसे बाहर निश्चल लिये त्रिपुरके सम्मुख उमरे उड़ीसी लोजमें बड़ा रहेंगा । बास ! जब पुष्प-नश्वरके सम्बन्धमें ये तीनों रहे हैं । इसलिये तुम सहाय मोसहित अपना श्रेष्ठ अत्युपरि तथा भूमिका देवताओं तथा मेरे वृत्योंके साथ आगे पुर एक स्थानपर स्थित होंगे, तब मैं एक ही बाणमें बज लेकर सैकड़ों देवताओं तथा मेरे वृत्योंके साथ आगे इन्हं दग्ध कर डालौंगा ॥ १३२ ॥

इत्युक्तो चै भगवता रुद्रेण्हं सुरेश्वरः । यथौ तन्मितुरं जेतुं तन संविन संचृतः ॥ १३ ॥  
 प्रकाश्टतरथभीमैस्तैः सदैवैः पार्पदां गणाः । कृन्मित्यर्योपेत्यस्त्रदगच्छद्विग्याम्बुदैः ॥ १४ ॥  
 तेन नादेन त्रिपुराद् दानवा युद्धलालसः । उत्पत्त्य द्रुहुवृश्चेत्युभायुवाः न गणश्वरान् ॥ १५ ॥  
 अन्ये पशोधरारावाः पशोधरसमा वभुः । संसिहनादं वादिवं वादयामामुष्मदत्ताः ॥ १६ ॥  
 देवानां सिहनादश्च सर्वतर्यर्यो महान् । यस्तोऽमद् दैत्यनादेश्च चन्द्रस्तोयवर्गेरिव ॥ १७ ॥  
 चन्द्रोदयात् समुद्रतः पौर्णमास इवाणवः । त्रिपुरं प्रभवन् तद्वद् भीमस्पमहामुर्दैः ॥ १८ ॥  
 ग्राकरेषु पुरे तव गोपुरेष्वपि चापरे । अद्वालकान् समामृश केचिद्विलितवादिनः ॥ १९ ॥  
 स्वर्णमालाधराः शूराः प्रभासितवराम्बवराः । केचिद्वादिनि दनुजास्तोयमत्ता इवाम्बुदाः ॥ २० ॥  
 इतश्चेतश्च धावन्तः केचिदुद्धनवाससः । किमेतदिनि पप्रच्छुन्योऽन्यं गृहमात्रिनाः ॥ २१ ॥  
 किमेतन्नैनं जानामि ज्ञानमन्तर्हितं हि मे । ज्ञास्यसेऽनन्तरेणेति कालो विस्तारतो महान् ॥ २२ ॥  
 सोऽप्यसौ पृथ्वीसारं सिहश्च रथमास्थितः । तिष्ठते त्रिपुरं पीछ्य देहव्याधिरिचोच्छ्रुतः ॥ २३ ॥  
 य एषोऽस्ति स एषोऽस्तु का चिन्ता समझमें सति । एहि ह्यायुधमादाय क्षम में पृच्छा भविष्यति ॥ २४ ॥  
 इति तेऽन्योन्यमाविद्धा उत्तरोत्तरभाषिणः । आसाद्य पृच्छन्ति तदा दानवालिपुरालयाः ॥ २५ ॥

भगवान् रुद्रद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर देवराज इन्द्र उस विशाल सेनाके साथ उस त्रिपुरको जीतनेके लिये आगे बढे । चलते समय देवताओं और पार्पदग्नोके रथोंसे भीयण शब्द हो रहा था और वे सभी मेघकी गर्जनाके समान सिहनाद कर रहे थे । उस शब्दको सुनकर दानवगण युद्धकी लालसासे अख लेफर त्रिपुरसे बाहर निकले और आकाशमें छलौंग मारते हुए गणेश्वरोपर दूट पडे । उनमें कुछ अन्य उद्दण्ड दानव, जो काले मेघकी समान शोभा पा रहे थे, मेघकी तरह गर्जना कर रहे थे और सिहनाद करते हुए बाजा बजा रहे थे । उस समय दैत्योंके सिहनादसे देवताओंका सिंहनाद और सभी प्रकारके तुरही अड़ि बाजोंका महान् शब्द उसी प्रकार अभिभूत हो गया, जैसे बादलोंके बीच चन्द्रमा छिप जाते हैं । जैसे चन्द्रमाके उदय होनेपर पूर्णिमा तिथिको समुद्र वृद्धिगत हो जाता है, वैसे ही उन भयंकर

स्वप्नाले महान् असुरोंसे त्रिपुर उरीत हो उठा । उस पुरमें कुछ दानव परमोद्योपर तथा कुछ फाटको और अद्वालिकाओंपर चढ़कर 'चलो, निझायो' ऐसा कहकर लड़कार रहे थे । कुछ शूर-वीर दानव मुन्डर एवं श्रेष्ठ वस्त्र धारण किये हुए थे, उनके गलेमें स्वर्णकी जंकीर शोभा पा रही थी और वे जलमें भरे हुए बादलकी भाँति सिहनाद कर रहे थे । कुछ वस्त्र फहराते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे और धरर असर परस्पर एक-दूसरेसे पूछ रहे थे — 'यह क्या हो रहा है ?' ( दूसरा उत्तर देता था कि ) 'क्या हो रहा है, यह तो मे नहीं जानता; क्योंकि उसकी जानकारी मुझसे छिपी हूई है । कुछ समयके बाद तुम्हे भी जात हो जायगा । अभी तो बहुत समय शेय है । ( देखो न ) वहाँ पृथ्वीके सारभूत रथपर बैठा हुआ वह जो सिंह खड़ा है, वह त्रिपुरसे उसी प्रकार पीड़ा दे रहा है, जैसे बड़ी हूई व्यापि शरीरको कष्ट

देती है। वह जो हो, सो रहे; ऐसे हलचलके उपस्थित होनेपर चिन्ता करना व्यर्थ है। अब हथियार लेकर मैदानमें आ जाओ, फिर मुझसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी।' उस समय त्रिपुरनिवासी दानव परस्पर एक-दूसरेको पकड़कर इसी प्रकार पूछते थे और परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर देते थे ॥ १३-२५ ॥

**तारकाख्यपुरे**      दैत्यास्तारकाख्यपुरःसराः । निर्गताः कुपितास्तूण विलादिव महारगाः ॥ २६ ॥  
**निर्धावन्तस्तु** ते दैत्याः प्रमथाधिपयूथपैः । निरद्वा गजराजानो यथा केसरियूथपैः ॥ २७ ॥  
**दर्पितानां** ततश्चैवां दर्पितानामिवाग्निनाम् । रूपाणि जघ्नुस्तेयामग्नीनामिव धस्यताम् ॥ २८ ॥  
**ततो वृहन्ति** चापानि भीमनादानि सर्वशः । निकृष्ट्य जघ्नुरन्योन्यमिषुभिः प्राणभोजनैः ॥ २९ ॥  
**मार्जारमुगभीमास्यान्** पार्पदान् विकृताननान् । दृष्ट्वा दृष्ट्वा हसन्तुच्छैर्दीनवा रूपसम्पदा ॥ ३० ॥  
**वाहुभिः** परिवाकारैः कृष्यतां धनुपां शराः । भट्टवमैषु विविश्वस्तडागानीव पक्षिणः ॥ ३१ ॥  
**मृताः** स्थ क तु यास्यध्वं हनिष्यामो निवर्तताम् । इत्येवं परमाणुकत्वा दानवाः पार्पदर्पभान् ॥ ३२ ॥

विभिन्नः सायकैस्तीक्ष्णैः सूर्यपादा इवाम्बुदान् ।

प्रमथा अपि सिंहाक्षाः सिंहविक्रान्तविक्रमाः । खण्डशैलशिलावृक्षैर्विभिन्नदैत्यदानवान् ॥ ३३ ॥  
**अम्बुदैराकुलमिव** हंसाकुलमत्यर्थं तत्पुरं सकलं वभौ ॥ ३४ ॥  
**विकृष्टचापा** दैत्येन्द्राः सुजन्ति शरदुर्दिनम् । इन्द्रचापाङ्गितोरस्का जलदा इव दुर्दिनम् ॥ ३५ ॥  
**इषुभिस्ताङ्गमानास्ते** भूयो भूयो गणेश्वराः । चक्रस्ते देहनिर्यासं स्वर्णधातुमिवाचलाः ॥ ३६ ॥  
**तथ** वृक्षशिलावज्रशूलपट्टिपरश्वधैः । चूर्णन्तेऽभिहता दैत्याः काचापङ्कहता इव ॥ ३७ ॥  
**तारकाख्यो** जयत्येप इति दैत्या अयोपयन् । जयतीन्द्रश्च रुद्रश्च इत्येव च गणेश्वराः ॥ ३८ ॥

इधर तारकाख्यपुरके निवासी दैत्य क्रोधसे भरे हुए तारकाभक्तो आगे करके तुरंत न आसे उसी प्रकार वाहर निकले, मानो विलसे विषयर सर्व निफल रहे हो । वाहर निकलकर उन दैत्योंने देवसेनापर धावा बोल दिया, परंतु प्रमथगणोंके यूथपतियोंने उन्हे ऐसा रोक दिया, जैसे सिंहसमूह गजराजोंके दलको स्तम्भित कर देते हैं । उन गवींले दानवोंका रूप तो यों ही ( क्रोधके कारण ) अग्निवी तरह उदीस हो उठा था, इधर रोक दिये जानेपर वे धौकी जाती हुई आगकी तरह जल उठे । फिर तो सब ओर भयंकर सिंहनाद होने लगा । दानवगण बड़े-बड़े धनुपोंपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर प्राण-हरण करनेवाले बाणोद्वारा एक-दूसरेपर प्रहर करने लगे । प्रमथगणोंमें किन्हींके मुख विलव और किन्हींके मृगके समान भयंकर थे तथा किन्हींके मुख टेढ़े-मेढ़े थे । उन्हे देख-देखकर ठहाका मारकर सौन्दर्यशाली दानव हँसने लगे । परिवक्ती-सी आकाशवाली भुजाओद्वारा खींचे जाते हुए धनुपोंसे छूटे हुए

बाण योद्धाओंके कब्बोंमें उसी प्रकार बुस जाते थे, जैसे पक्षी तालाबोंमें प्रवेश करते हैं । उस समय दानवगण पार्पदयूथपतियोंको ललकारकर कह रहे थे—'अरे ! अब तो तुमलोग मरे ही हो । हमारे हाथोंसे दृष्टकर कहा जाओगे ! लौट आओ । हमलोग तुम्हे मार डालेगे।' ऐसी कठोर वाते कहकर वे अपने तीखे बाणोंसे उन्हें इस प्रकार विदीर्ण कर रहे थे, जैसे मूर्यफी किरणें बादलोंको भेदकर पार कर जाती हैं । उधरसे सिंहके समान पराक्रमी एवं सिंह-सदृश नेत्रोंवाले प्रमथगण भी शिलाओं, शिलाखण्डों और वृक्षोंके प्रहारसे दैत्यों और दानवोंको चूर्ण-सा बना दे रहे थे । उस समय बादलोंसे आच्छादित एवं हंसोंसे व्याप आकाशकी तरह वह सारा पुर दानवोंसे व्याप होकर अन्यन्त सुओभित हो रहा था । जैसे इन्द्रधनुपरसे चिह्नित मध्यभागवाले बादल जलकी वृष्टि करके दुर्दिन ( मेघाच्छुल दिवस ) उत्पन्न कर लेते हैं, उसी प्रकार दैत्येन्द्रगण अपने धनुपोंकी प्रत्यञ्चाको

कानतक खीचकर बाणोंकी वर्पा कर अन्धकार उत्पन्न कर रहे थे । दानवोंके बाणोंसे बारंबार घायल होनेके कारण गणेश्वरोंके शरीरोंसे रक्तकी धार वह रही थी, जो ऐसी प्रतीत होती थी, मानो पर्वतोंसे सुवर्णधातु रही थी । उत्तर दैत्याण निकल रही हो । उत्तर गणेश्वरोंद्वारा चलाये गये घृत, रहे थे—ऐसी धोपणा कर जिला, वज्र, शूल, पट्टा और कुण्डरके प्रहारसे दैत्याण ऐसे हैं ॥ २६-३८ ॥

वारिना दारिना वाणीयोधास्तस्मिन् वलोभर्य । निःस्वनन्तोऽस्तुतमये जलगर्भा इवाम्बुदाः ॥ ३९ ॥  
करैदिव्यन्नैः गिरेभिश्च ध्वजैश्छ्रवैश्च पाण्डुरैः । युद्धभूमिर्भयवती मांसग्रोगिनपूरिना ॥ ४० ॥  
व्योम्नि चोन्प्लुन्य सहसा तालमात्रं वरायुधैः । द्वाहताः पनन पृथ्वे दानवाः प्रमथास्तथा ॥ ४१ ॥  
स्मिद्वाश्वाप्नरसद्वैव चारणाश्च नभोगताः । दृढप्रहारघृषिताः साधु साधिनि चुक्षुः ॥ ४२ ॥  
अनाहताश्च वियनि देवदुन्दुभयस्तथा । नदन्तो मेघशब्देन गर्भा इव रोपिताः ॥ ४३ ॥  
ते तस्मिन्निपुरे दैत्या नवः सिन्धुपताविव । विशन्ति कुञ्चवद्वा वल्मीकिमिष्य पवनाः ॥ ४४ ॥  
तारकाख्यपुरे तस्मिन् सुराः शूराः समन्ततः । सशस्त्रा निपतन्ति स्म सपक्षा इव भूवराः ॥ ४५ ॥  
शोधयन्ति त्रिभगेन त्रिपुरे तु गणेश्वराः । विशुन्माली मयद्वैव मरनौ च दुसवद्रणे ॥ ४६ ॥  
विशुन्माली स दैत्येन्द्रो गिरीन्द्रसदशाद्युतिः । आदाय परिघं घोरं ताष्णामाम ननिदमम् ॥ ४७ ॥  
स नन्दी दानवेन्द्रेण परिघेण द्वाहतः । ध्रमते मधुनाव्यक्तः पुरा नारायणो यथा ॥ ४८ ॥

उन दोनों सेनाओंमें बाणोंद्वारा रोके एवं घायल किये गये थीं इतने जोरमें सिंहनाड कर रहे थे, जैसे वर्पाकालमें जलमें भरे हुए बाढ़ गरजते हैं । कठे हुए हाथों, मम्तको, पीले रंगकी पताकाओं और छत्रोंसे तथा मांस और रुविरसे भरे हुई युद्धभूमि बड़ी भयानकी लग रही थी । दानव तथा प्रमथगण उत्तम अन्ध धारण कर पहले तो सहसा ताढ़-बृक्षकी ऊँचाई वरावर आकाशमें उछल पड़ते थे और पुन सुदृढ़स्थपसे घायल होकर भूलपर गिर पड़ते थे । गगनमण्डलमें स्थित मिह, असुर और चारणोंके ममह ( दानवोंपर ) सुदृढ़ प्रहार होनेमें हर्षित होकर ‘टीक हैं, टीक हैं’, ऐसा कहते हुए चिल्लाने लगते थे । उस समय आकाशमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ चिना चोट किये ही बज रही थीं । उनसे मंधकी गर्जना तथा कुह हुए अरम ( अष्टपदी ) की दहाड़के ममान

शब्द हो रहे थे । दैत्याण उस त्रिपुरमें इम प्रकार प्रविष्ट हो रहे थे, जैसे नदियाँ समुद्रमें और कुद मुख्यलै सर्प विमवद्वयमें प्रवेश करते हैं । उधर अस्त्वारी, शूरवीर देवगण तारकाश्चके उस नामके ऊपर चारों ओर इस प्रकार ऊंच हुए थे मानो पंखगारी पर्वत में डरा रहे हो । गणेश्वर त्रिपुरमें तीन मागोंमें त्रिमक्त होकर युद्ध कर रहे थे । उस समय विशुन्माली और मय—ये दोनों युद्धस्थलमें बृक्षकी भौंति डटे हुए थे । इसी वीच हिमालय-तुल्य कान्तिरान् दैत्येन्द्र विशुन्मालीने अपना गयंकर परिव उठाकर नन्दीपर प्रहार किया । दानवेन्द्रको उस परिवके आघातमें नन्दी विशेषस्थलसे घायल हो गये और वे ऐसा चक्कर काटने लगे, जैसे पूर्वकालमें दैत्यराज मधुके प्रहारसे अव्यक्तस्थरूप मगवान् नारायण त्रमित हो गये थे ॥ ३९-४८ ॥

नन्दीश्वरे गते तत्र गणपाः ख्यातविक्रमाः । दुदुबुर्जातसंरम्भा विद्युन्मालिनमासुरम् ॥ ४९ ॥  
 घण्टाकर्णः शङ्कुकर्णो महाकालश्च पार्षदाः । ततश्च सायकैः सर्वान् गणपान् गणपाकृतीन् ॥ ५० ॥  
 भूयो भूयः स विव्याध गणेश्वरमहत्तमान् । भित्त्वा भित्त्वा हराद्वौचैर्नभस्यमृधरो यथा ॥ ५१ ॥  
 तस्यारम्भितशब्देन नन्दी दिनकरप्रभः । संहां लभ्य ततः सोऽपि विद्युन्मालिनमाद्रवत् ॥ ५२ ॥  
 रुद्रदत्तं तदा दीप्तं दीप्तानलसमप्रभम् । वज्रं वज्रनिभाङ्गस्य दानवस्य ससर्ज ह ॥ ५३ ॥  
 तत्त्वन्दिमुजनिर्मुक्तं मुक्ताफलविभूषितम् । पपात वक्षसि तदा वज्रं दैत्यस्य भीषणम् ॥ ५४ ॥  
 स वज्रनिहितो दैत्यो वज्रसंहनोपमः । पपात वज्राभिहतः शक्णेणाद्विरिवाहतः ॥ ५५ ॥  
 दैत्येश्वरं विनिहितं नन्दिना कुलनन्दिना । चुकुशुर्दीनवाः प्रेक्ष्य दुदुबुश्च गणाधिपाः ॥ ५६ ॥  
 दुःखामर्पितरोपस्ते विद्युन्मालिनि पातिते । द्रुमशैलमहाब्रुण्ठे पयोदाः ससुर्जुर्यथा ॥ ५७ ॥  
 तं पीड्यमाना गुरुभिर्गिरिभिश्च गणेश्वराः । कर्तव्यं न विदुः किञ्चिद्वन्द्यमाधार्मिका इव ॥ ५८ ॥  
 ततोऽसुरवरः श्रीमांस्तारकाख्यः प्रतापवान् । स तरुणां गिरीणां वै तुल्यरूपधरो वर्भां ॥ ५९ ॥  
 भिन्नोत्तमाङ्गा गणपा भिन्नपादाङ्गितानाः । विरेजुभुजगा मन्त्रैर्वर्यमाणा यथा तथा ॥ ६० ॥  
 नन्दीश्वरके धायल होकर रणभूमिसे हट जानेपर  
 विख्यातपराक्रमी घण्टाकर्ण, शङ्कुकर्ण और महाकाल  
 आदि प्रधान पार्षदगण कुद्र होकर एक साथ राखस  
 विद्युन्मालीके ऊपर दूट पढे । तब विद्युन्मालीने उन सभी  
 गणेश्वरोंको, जो गणेश-सदृश आकृतिवाले तथा गणेश्वरोंमें  
 प्रधान थे, वाणोद्वारा लगातार वीधना आरम्भ किया ।  
 वह उन्हे धायल करके इतने उच्च स्तरसे सिंहनाद  
 करता था मानो आकाशमें वादल गरज रहे हों । उसके  
 उस सिंहनादसे सूर्य-सरीखे प्रभाशाली नन्दीकी मूर्छ्य  
 भग्न हो गयी, तब वे भी विद्युन्मालीपर चढ धाये । उस  
 समय उन्होंने रुद्रद्वारा डिये गये एव प्रज्ञलित अग्निके  
 समान प्रभाशाली चमकते हुए वज्रको वज्रतुल्य कठोर  
 शरीरवाले दानवके ऊपर चला दिया । तब नन्दीके  
 हाथसे कूटा हुआ मोतियोंसे विभूषित वह भयंकर वज्र  
 विद्युन्मालीके वक्षस्थलपर जा गिरा । फिर तो वज्रके  
 रणभूमिमें उपस्थित हुआ ॥ ४९-६० ॥

मयेन मायावीर्येण वध्यमाना गणेश्वराः । भ्रमन्ति वहुशब्दालाः पञ्चरे शकुना इव ॥ ६१ ॥  
 तथासुरवरः श्रीमांस्तारकाख्यः प्रतापवान् । ददाह च वलं सर्वे शृष्टेन्धनमिवानलः ॥ ६२ ॥  
 तारकाख्येण वार्यन्ते शरवैस्तदा गणाः । मयेन मायानिहतास्तारकाख्येण चेपुभिः ॥ ६३ ॥  
 गणेशा विधुरा जाता जीर्णमूला यथा द्रुमः ॥ ६४ ॥  
 भूयः सम्पत्तं चाग्निर्ग्रहान् ग्राहान् भुजङ्गमान् । गिरीन्द्रांश्च हरीन् द्व्याघ्रान् वृक्षान् सूमरवर्णकान् ॥ ६५ ॥  
 शरभानष्टपादांश्च आपः पवनमेव च । मयो मायावलेनैव पातयन्त्येव गत्रुपु ॥ ६६ ॥  
 ते तारकाक्षेण मयेन मायया समुद्यमाना विवशा गणेश्वराः ।  
 न शक्तुवंस्ते मनसापि चेष्टितुं यथेन्द्रियार्था मुनिनाभिमन्यताः ॥ ६७ ॥  
 महाजलाग्न्यादिसकुञ्जरोरगैर्हरीन्द्रव्याघ्रक्षतरकुराक्षसैः ।  
 विवाद्यमानास्तमसा विमोहिताः समुद्रमध्येष्विव गाधकाङ्गिणः ॥ ६८ ॥

सम्मर्द्यमानेषु गणेश्वरेषु संनद्दमानेषु मुरेतरेषु ।  
ततः सुराणां प्रवराभिरक्षितुं रिपोर्चलं संचिविशुः सहायुधाः ॥ ६९ ॥  
यमो गदाख्यो वरुणश्च भास्करस्तथा कुमारोऽमरकोटिसंयुतः ।  
स्वयं च शकः सितनागवाहनः कुलीशपाणिः सुरलोकपुज्ज्वः ॥ ७० ॥  
स चोडुनाथः ससुतो द्विवाकरः स सान्तकस्त्यक्षपतिर्महायुतिः ।  
एते रिपूणां प्रवराभिरीक्षितं तदा वलं संचिविशुर्मदोद्धताः ॥ ७१ ॥  
यथा वनं दर्पितकुञ्जराघिपा यथा नभः साम्बुधरं द्विवाकरः ।  
यथा च सिंहैर्विजनेषु गोकुलं तथा वलं तच्चिद्दशैरभिद्वृतम् ॥ ७२ ॥  
कृतप्रहारातुरदीनदानवं ततस्त्वभज्यन्त वलं हि पर्वदाः ।  
स्वज्योंतिपां ज्योतिरिवोप्मवान् हरिर्यथा तमो व्रोरतरं नराणाम् ॥ ७३ ॥  
विशान्तयामास यथा सदैव निशाकरः संचितशार्वरं तमः ।

उस समय वहुतेरे गणेश्वरोंके मस्तक फट गये थे, किन्हींके पैर टूट गये थे और कुछके मुखोंपर धाव शोमा पा रहे थे । मायाकी मयद्वारा मारे जाते हुए गणेश्वर पिंजरेमें बंद पक्षीकी तरह अनेको प्रकारका शब्द करते हुए चक्कर काट रहे थे । तत्पश्चात् असुरश्रेष्ठ प्रतापी श्रीमान् तारकाक्षने पार्षदोंकी सारी सेनाओं उसी प्रकार जलाना प्रारम्भ किया, जैसे आग सूखे इन्वनको जला देती है । तारकाक्ष वाणोंकी वर्पा करके पार्षदगणको रोक देता था । इस प्रकार मयकी माया और तारकाक्षके वाणोंद्वारा गणेश्वर मारे जा रहे थे । वे पुरानी जडवाले वृक्षोंकी तरह व्याकुल हो गये । पुनः मयने अपनी मायाके वलपर शत्रुओंके ऊपर अग्निकी वर्पा की तथा ग्रह, मक्तर, सर्प, विशाल पर्वत, सिंह, बाघ, वृक्ष, काले हिरन और आठ पैरोंवाले शरमो (गैडों) को भी पिराया, जलकी धनधोर वृष्टि की और झंझावातका भी प्रकोप उत्पन्न किया । इस प्रकार तारकाक्ष और मयकी मायासे मोहित होकर वे गणेश्वर मनसे भी चेटा करनेमें असमर्य हो गये । वे ऐसे विवश हो गये, जैसे मुनियोद्वारा रोके गये इन्द्रियोंके विषय । उस समय प्रमयगण जल और अग्निकी महान् वृष्टि, हार्यी, सर्प, सिंह, व्याघ्र, रीछ, चीते और राक्षसोद्वारा सजाये जा रहे थे । मायाका

इतना घना अन्धकार प्रकट हुआ, जिसमें वे ऐसे विमोहित हो गये, जैसे समुद्रके मन्यमें जलकी थाह लगानं-वाले त्रिमूढ हो जाते हैं । इस प्रकार गणेश्वर पीड़ित किये जा रहे थे और दानवगण सिंहनाद कर रहे थे । इसी बीच प्रवान-प्रवान देवता अखधारणकर गणेश्वरोंकी रक्षा करनेके लिये शत्रुसेनामें प्रविष्ट हुए । उस अवसरपर गदावारी यमराज, वरुण, भास्कर, एक करोड़ देवताओंके साथ कुमार कार्तिकेय, द्वेषत हाथी ऐरावतपर सवार हो हाथमें वज्र छिये हुए स्वयं देवराज इन्द्र, चन्द्रमा और अपने पुत्र शनैश्चरके साथ सूर्य तथा अन्तक्रसहित परम तेजसी त्रिलोचन रुद्र—ये सभी मदोद्धत देवता उत्कृष्ट वलवानोद्वारा सुरक्षित शत्रुओंकी सेनामें प्रविष्ट हुए । जिस प्रकार मतवाले गजेन्द्र वनमें, वादलोंसे घिरे हुए आकाशमें सूर्य और निर्जन स्थानमें स्थित गोष्ठमें सिंह प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार देवताओंने उस सेनापर धावा बोल दिया । किर तो पार्षदगणोंने शत्रुप्रहार करके दानवोंको ऐसा व्याकुल और दीन कर दिया कि उनका वह विशाल सेना-व्यूह उसी प्रकार छिन्न-मिन्न हो गया जैसे स्वर्णीय ज्योतिःपुञ्जोंके महान् ज्योति उण्णरस्मि सूर्य मनुष्योंके अन्धकारका विनाश कर देते हैं तथा चन्द्रमा रात्रिके धने अन्धकारका प्रशमन कर देते हैं ॥ ६१—७३३ ॥

ततोऽपकृष्टे च तमः प्रभावे ह्यख्यप्रभावे च विवर्धमाने ॥ ७४ ॥  
दिग्लोकपालैर्गणनायकैश्च कृतो महान् सिंहरवो सुहृत्तम् ।  
संख्ये विभग्ना विकरा विपादाशिष्ठनोत्तमाङ्गाः शरपूरिताङ्गाः ॥ ७५ ॥

देवेतरा देववरैर्विभिन्नाः सीदन्ति पङ्केषु यथा गजेन्द्राः ।  
वज्रेण भीमेन च वज्रपाणिः शक्त्या च शक्त्या च मयूरकेतुः ॥ ७६ ॥  
दण्डेन चोत्रेण च धर्मराजः पाशेन चोत्रेण च वारिगोपा ।  
शूलेन कालेन च यक्षराजो वीर्येण तेजस्वितया सुकेशः ॥ ७७ ॥

गणेश्वरास्ते सुरसंनिकाशाः पूर्णाहुतीसिक्तशिखिप्रकाशाः ।  
उसादयन्ते दनुपुत्रवृन्दान् यथैव इन्द्राशनयः पतन्त्यः ॥ ७८ ॥

मयस्तु देवान् परिरक्षितारमुमात्मजं देववरं कुमारम् ।  
शरेण भित्त्वा स हि तारकासुतं स तारकाख्यालुरमावभाये ॥ ७९ ॥

कृत्वा प्रहारं प्रविशामे वीरं पुरं हि दैत्येन्द्र वलेन युक्तः ।  
विश्राममूर्जस्करमप्यवाप्य पुनः करिष्यामि रणं प्रपन्नैः ॥ ८० ॥

वयं हि शख्यक्षतविद्धिताङ्गा विशीर्णशख्यध्वजवर्मवाहाः ।  
जयैपिणस्ते जयकाशिनश्च गणेश्वरा लोकवराधिपाद्मच ॥ ८१ ॥

मयस्य श्रुत्वा दिवि तारकाख्यो वचोऽभिकाङ्क्षान् क्षतजोपमाक्षः ।  
विवेश तूर्णं त्रिपुरं दितेः सुतैः सुतैरदित्या युधि वृद्धहैः ॥ ८२ ॥

ततः सशङ्कानकभेरिभीमं सर्सिंहनादं हरसैन्यमावभौ ।  
मयानुगं घोरगभीरगह्रं यथा हिमाद्रेग्जसिंहनादितम् ॥ ८३ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे इलावृते देवदानवयुद्धवर्णने प्रहारक्षतं नाम पञ्चत्रिशदधिकशततमोऽन्यायः ॥ १३५ ॥

तदनन्तर अन्वकारका प्रभाव नष्ट हो जाने और असक्ता प्रभाव वढ़नेपर दिक्पालो, लोकपालों और गणनायकोंने दो बड़ीतक महान् सिंहनाद किया । फिर तो वे युद्धमें दानवोंको विटीर्ण करने लगे । वहाँ किन्हींके हाथ कट गये तो किन्हींके पैर खण्डित हो गये, किन्हींके मस्तक कट गये तो किन्हींके शरीर बाणोंसे घिर गये । इस प्रकार देवश्रेष्ठोद्वारा धायल किये गये दानव ऐसा कष्ट पा रहे थे, जैसे दलदलमें फँसे हुए गजराज घिरता हो जाते हैं । उस समय वज्रपाणि इन्द्र अपने भयंकर वज्रसे, मयूरध्वज स्वामिकार्तिक शक्तिपूर्वक अपनी शक्तिसे, धर्मराज अपने भयकर दण्डसे, वरुण अपने उग्र पाशसे और पराक्रम एवं तेजसे सम्मन सुन्दर वालोंवाले यज्ञराज कुबेर अपने काल-सदृश शूलसे प्रहार कर रहे थे । देवताओंके समान तेजस्वी एवं

पूर्णाहुतिसे सिक्त हुई अग्निके समान प्रकाशमान गणेश्वर दानववृन्दपर उसी प्रकार झपटते थे मानो बिजलियों गिर रही हैं । तत्पश्चात् मयने देवताओंकी रक्षामें तत्पर पार्वती-नन्दन एवं तारका-पुत्र सर्वश्रेष्ठ कुमार कार्तिकेय-को बाणसे धायल कर तारकाक्षसे कहा—‘दैत्येन्द्र ! हमलोगोंके शरीर शख्योंके आघातसे अत्त-विक्षत हो गये हैं तथा हमारे शख्याख्य, ध्वज, कवच और वाहन आदि भी छिन्नभिन्न हो गये हैं । इधर गणेश्वरों तथा लोकनायक देवोंके मनमें जयकी अमिलापा विशेषरूपसे जागरूक हो उठी है, साथ ही वे विजयी भी हो रहे हैं, इहाः अब मै इस वीरपर प्रहार करके सेनासहित नगरमें प्रवेश कर जाता हूँ और वहाँ कुछ देर विश्राम करके शक्ति-सम्पन्न होकर पुनः अनुचरोंसहित युद्ध करूँगा ।’ मयकी ऐसी बात सुनकर उसका पालन करता हुआ रुविन्द्रस्तोत्रे लाल नेंद्रोंवाचा तारकात्म तुर्त

ही आकाशमार्ग से दिति-पुत्रों के साथ त्रिपुरमें प्रवेश कर गया। उस समय देवगण रणभूमि में हर्षके मारे उछल पडे। फिर तो मयका पीछा करते हुए भगवान् शंकरके सैनिक विशेष शोभा पा रहे थे। उनके शब्द, नगाडे

और भेरियाँ वजने लगीं तथा वे सिंहनाइ करने लगे। उस समय ऐसा भीषण शब्द ही रहा था मानो हिमालय पर्वतशी भद्रकर एवं गहरी गुफामें गतराज और सिंह दहाड़ रहे हों ॥ ७२-८३ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाहप्रसङ्गमें इलाहृतमें देव-दानव-युद्ध-प्रसन्नमें परस्पर प्रहार नामक एक साँ पैतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३३ ॥

## एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय

मयका चिन्तित होकर अद्भुत वावलीका निर्माण करना, नन्दिकेश्वर और तारकासुरका भीषण युद्ध तथा प्रमथगणोंकी मारसे विमुख होकर दानवोंका त्रिपुर-प्रवेश

मूल उवाच

मयः प्रहारं कृत्वा तु मायावी दानवर्पभः । विवेश तूर्णं त्रिपुरमध्यं नीलमिवाम्भम् ॥ १ ॥ स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य दानवान् वीक्ष्य मध्यगान् । दध्यौ लोकक्षये प्राप्ते कालं काल इवापरः ॥ २ ॥ इन्द्रोऽपि विभ्यते यस्य स्थितो युद्धेष्वुरग्रतः । स चापि निधनं प्राप्तो विद्युन्माली महायशः ॥ ३ ॥ दुर्गं वै त्रिपुरस्यास्य न समं विद्यते पुरम् । तस्याप्येषोऽनयः प्राप्तो नादुर्गं कारणं फ्रघचित् ॥ ४ ॥ कालस्यैव वशो सर्वं दुर्गं दुर्गतरं च यत् । काले कुद्वे कथं कालान्वाणं नोऽद्य भविष्यति ॥ ५ ॥ लोकेषु त्रिपुर्यक्तिक्षिद् वलं वै सर्वजन्तुपु । कालस्य तद्वशं सर्वमिति पैतामहो विद्यः ॥ ६ ॥ अस्मिन् कः प्रभवेद् यो वै ह्यसंधायेऽमितात्मनि । लहूने कः समर्थः स्यादते वेदं महेश्वरम् ॥ ७ ॥ विभेषि नेन्द्राद्विद्यमाद् वह्यान्न च वित्तपात् । स्वामी चैपां तु देवानां दुर्जयः स महेश्वरः ॥ ८ ॥ ऐश्वर्यस्य फलं यत्तप्रभुत्वस्य च समन्ततः । तदय दर्शयिष्यामि यावहीराः समन्ततः ॥ ९ ॥ वार्षीमसृततोयेन पूर्णा स्त्रैष्ये वरौपधीः । जीविष्यन्ति तदा वैत्याः संजीवनवरौपयैः ॥ १० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋग्यो ! दानवश्वेष्ट मायावी मय स्वामिकार्तिक्षपर प्रहारकर त्रिपुरमें उसी प्रकार तुरंत प्रवेश कर गया, जैसे नीले आकाशमें ब्राह्मण प्रविष्ट हो जाते हैं। वहाँ आकर उसने लम्बी और गरम सॉस ली तथा त्रिपुरमें भागकर आये हुए दानवोंकी ओर देखकर लोकके त्रिनाशके अवसरपर दूसरे कालके समान मद कालके त्रिपथमें विचार करने लगा—‘अहो ! रणभूमिमें युद्धकी अभिलापासे सम्मुख खड़ा हो जानेपर जिससे इन्द्र भी डरते थे, वह महायशकी विद्युन्माली भी कालका ग्रास बन गया। त्रिलोकोंमें इस त्रिपुरकी समनामें अन्य कोई दुर्ग अवश्य पुर नहीं है, फिर भी इसपर भी ऐसी

आ ही गयी, अतः ( प्राणक्षाके लिये )

दुर्ग कोई कारण नहीं है । ( इसलिये मैं तो ऐसा समझता हूँ कि ) दुर्ग ही क्यों ? दुर्गसे भी बढ़कर सभी वस्तुएँ कालके ही वशमें हैं । तब भला कालके कुपित हो जानेपर इस समय हमलेगोकी कालसे रभा कैसे हो सकेगी ? तीनों लोकों तथा समस्त प्राणियोंमें जो-कुछ वल है, वह सारा-का-सारा कालके वशीभूत है—ऐसा व्रक्षाका विधान है । ऐसे अमित पराक्रमी एवं असाच्य कालके प्रति कौन-सा उद्योग सफल हो सकता है ? भगवान् शंकरके अतिरिक्त उस कालपर विजय पानेमें कौन समर्थ हो सकता है ? मैं इन्द्र, यम और वरुणसे नहीं डरता, कुवरसे भी मुझे कोई भय नहीं है, किंतु इन देवताओंके सामी जो महेश्वर हैं, उनपर विजय पाना

दुष्कर है। फिर भी जवतक ये दानवीर चारों ओर विखरे हुए हैं, तबतक ऐश्वर्य-प्राप्तिका जो फल होता है तथा स्वामी बननेका जो फल होता है, उसे मैं प्रदर्शित करूँगा। मैं एक ऐसी वावलीका निर्माण करूँगा, जिसमें अमृतरूपी जल भरा होगा। साथ ही कुछ श्रेष्ठ ओपवियोका भी आविष्कार करूँगा। उन श्रेष्ठ संजीविनी ओपवियोके प्रयोगसे मरे हुए दैत्य जीवित हो जायेंगे” ॥ १-१० ॥

इति संचिन्त्य बलवान् मयो मायाविनां वरः । मायथा ससुजे वार्णं रम्भामिव पितामहः ॥ ११ ॥  
 द्वियोजनायतां दीर्घां पूर्णयोजनविस्तृताम् । अरोहसंकमवर्तीं चित्रस्तां कथामिव ॥ १२ ॥  
 इन्द्रोः किरणकल्पेन सृष्टेनामृतगन्धिना । पूर्णां परमतोयेन गुणपूर्णमिवाङ्गनाम् ॥ १३ ॥  
 उत्पलैः कुमुदैः पञ्चवृत्तां कादम्बकैस्तथा । चन्द्रभास्करवर्णभैर्भौमैरावरणैवृत्ताम् ॥ १४ ॥  
 खर्गैर्मधुररावैष्ठ चारुचामीकरप्रभैः । कामैपिभिरिवाकीर्णा जीवनाभरणीमिव ॥ १५ ॥  
 संमृज्य स मयो वार्णी गङ्गामिव महेश्वरः । तस्यां प्रक्षालयामास विद्युन्मालिनमादितः ॥ १६ ॥  
 स वार्णां मज्जितो दैत्यो देवशत्रुमहावलः । उत्तस्थाविन्धनैरिद्धः सद्यो हुत इवानलः ॥ १७ ॥  
 मयथा चाञ्छिं कृत्या तारकाख्योऽमिवादितः । विद्युन्मालीनि वचनं मयमुख्याय चावर्णीत् ॥ १८ ॥  
 कव नन्दी सह सद्ग्रेण वृतः प्रमथजस्तुर्के । युध्यामोऽरीन् विनिष्पीड्य दयादेहेषु का हिनः ॥ १९ ॥  
 अन्वास्यैव च रुद्रस्य भवामः प्रभविणनः । तैर्वा विनिहता युद्धे भविष्यामो यमाशनाः ॥ २० ॥  
 विद्युन्मालेनिशम्यैतन्मयो वचनमूर्जितम् । तं परिच्छय सार्वदेव इदमाह महासुरः ॥ २१ ॥  
 विद्युन्मालिन् न मे राज्यमभिप्रेतं न जीवितम् । त्वया विना महावाहो किमन्येन महासुर ॥ २२ ॥  
 महामृतमयी वार्णी होणा मायाभिरीश्वर । सुष्टु दानवदैत्यतां हननां जीववर्धिनी ॥ २३ ॥  
 दिष्ट्या त्वां दैत्य पश्यामि यमलोकादिहागतम् । दुर्गतावनयत्रस्तं भोक्त्यामोऽन्य महानिधिम् ॥ २४ ॥

ऐसा विचारकर मायावियोंमें श्रेष्ठ बलवान् मयने एक ( सुन्दर ) वावलीकी रचना की, जैसे ब्रह्माजीने मायासे रम्भा अप्सराकी रचना कर डाली थी। वह ( वावली ) दो योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी थी। उसमें चित्र-विचित्र प्रसङ्गोंवाली कथाकी भौति क्रमशः चढाव-उतारगाली सीढ़ियाँ बनी थीं। वह चन्द्रमा की भिरणोके समान उज्ज्वल, अमृत-सदृश मधुर एवं सुगन्धित उत्तम जलसे भरी हुई ऐसी लग रही थी, मानो सम्पूर्ण सदगुणोंसे पूर्ण वोई वनिता हो। उसमें नील कमल, कुमुदिनी और अनेको प्रकारके कमल खिले हुए थे। वह चन्द्रमा और सूर्यके समान चमकीले रंगवाले भयंकर ढैनोंसे युक्त कलहंसोंसे व्याप थी। उसमें सुन्दर सुनहली कान्तिवाले पक्षी मधुर शब्दोंमें कूज रहे थे। वह जलाभिलापी जीवेसे व्याप उन्हे प्राणदान करनेवालीकी तरह दीख रही थी। जैसे महेश्वरने ( अपनी जटासे ) गङ्गाको उत्पन्न किया था, उसी प्रकार मयने उस वावलीकी रचना कर उसके जलसे

सर्वप्रथम विद्युन्मालीके शवको धोया। उस वावलीमें दुवोये जानेपर देवशत्रु महावली दैत्य विद्युन्माली उसी प्रकार उठ खडा हुआ, जैसे इन्द्रन पड़नेसे हवन की गयी अग्नि तुरंत उदीप हो उठती है। उग्ने ही विद्युन्मालीने हाथ जोड़कर मय और तारकासुरका अभिवादन किया और मयसे इस प्रकार कहा—‘प्रमथरूपी शृगालोंसे घिरा हुआ रुद्रके साथ नन्दी कहाँ खडा है ? अब हमलोग शत्रुओंको पीसते हुए युद्ध करेगे। हमलोगोंके शरीरमें दया कहाँ ? हमलोग या तो रुद्रको खटेड़कर प्रभावशाली होंगे अथवा उनके द्वारा युद्धस्थलमें मारे जाकर यमराजके ग्रास वन जायेंगे।’ विद्युन्मालीके ऐसे उन्साहपूर्ण वचन सुनकर महासुर मयके नेत्रोंमें ओसू छलफ आये। तब उसने विद्युन्मालीका आलिङ्गन कर इस प्रकार कहा—‘महावाहु विद्युन्माली ! तुम्हारे विना न तो मुझे राज्य अमीर है, न जीवनकी ही अभिलापा है। महासुर ! अन्य पदार्थोंकी तो वात ही

क्या है ? ऐश्वर्यशाली वीर ! मैंने मायाद्वारा अमृतसे मरी प्रभावसे ) मैं तुम्हें यमलोकसे लौटा हुआ देख रहा हूँ । दुर्द इस वावलीकी रचना की है । यह मेरे हुए दानवों और अब हमद्वया आपत्तिके समय अन्यायसे अपहरण की दैत्योंको जीवन-दान देगी । दैत्य ! सौभाग्यवश ( इसीके हुई महानिधिका उभयोग करेंगे ॥ ११-२४ ॥

द्वप्पा द्वप्पा च तां वापी मायथा मयनिर्मितम् । हृष्णननाक्षा दैत्येन्द्रः इदं वचनमब्लवद् ॥ २५ ॥  
दानवा युव्यतेदार्नीं प्रमथैः सह निर्मयाः । मयेन निर्मिता वापी हतान् संजीवयिष्यति ॥ २६ ॥  
ततः श्रुद्धाम्भुविनिमा भेरी सा तु भयंकरी । वायमाना ननादोच्चै रौरवी सा पुनः पुनः ॥ २७ ॥  
श्रुत्वा भेरीरचं घोरं मंदारस्मितसंनिभम् । न्यपतन्नसुरास्तूर्णं त्रिपुराद्युद्धलालसाः ॥ २८ ॥

**लोहराजतसौवर्णः कठक्रैर्मणिराजिनैः । आमुकैः कुण्डलैर्हर्मुकुर्टैरपि चोक्कटः ॥ २९ ॥**  
धूमायिता ह्यविरमा ज्वलन्त इव पावकाः । आयुधानि समादाय काशिनो दृढविक्रमाः ॥ ३० ॥  
नृत्यमाना इव नटा गर्जन्त इव तोयदाः । करोच्छ्रूया इव गजाः सिंहा इव च निर्मयाः ॥ ३१ ॥  
हृदा इव च गम्भीराः सूर्या इव प्रतापिताः । दुमा इव च दैत्येन्द्राख्यासयन्तो वलं महत् ॥ ३२ ॥  
प्रमथा अपि सोत्साहा गहडोत्पातपातिनः । युयुत्सवोऽभिवावन्ति दानवान् दानवारयः ॥ ३३ ॥  
नन्दीश्वरेण प्रमथास्तारकाख्येन दानवाः । चक्रुः संहत्य संग्रामं चोद्यमाना वलेन च ॥ ३४ ॥  
तेऽसिभिश्चन्द्रसंकाशैः शूलैश्चनानलपिङ्गलैः । वाणोऽव दृढनिर्मुक्तैरभिज्ञदुः परस्परम् ॥ ३५ ॥  
शराणां सुज्यमानानामसीनां च निपात्यताम् । रूपाण्यासन् महोल्कानां पतन्तीनामिचाम्बरात् ॥ ३६ ॥

मायाके प्रभावसे मयद्वारा निर्मित उस वावलीको देख- नाचते हुए नट हो । वे सूँड उठाये हुए हाथीके समान देखकर दैत्येन्द्रोके नेत्र और मुख हर्षके कारण उम्कुल हो उठे थे । तब वे ( दानवोंको ललकारते हुए ) इस तरह गर्जना कर रहे थे । कुण्डके समान गम्भीर, सूर्यके गर्जना वज उठे थे । वे सूर्यके समान भय उत्पन्न करनेवाली शब्द सेनाको पीडित करने लगे । तत्पश्चात् गहडकी भौति अपद्मा मारनेवाले दानव-शत्रु प्रमथगण भी उत्साह-पूर्वक युद्ध करनेकी अभिलापासे दानवोंपर दूट पडे । उस समय नन्दीश्वरकी अव्यक्तिमें दानवयूथ समवेतल्पसे युद्ध करने लगे । उन्हे सेनाएँ भी प्रेरित कर रही थीं । वे चन्द्रमाके समान चमकीली तलवारें, अग्नि-सद्वश पीले शूलो और मुद्दहस्पसे छोड़े गये वाणोसे परस्पर एक-दूसरेपर प्रहार कर रहे थे । उस समय छोडे जाते हुए वाणो तथा प्रहार की जाती हुई तलवारोंके रूप ऐसे दीख रहे थे, मानो आकाशसे गिरती हुई महोल्काएँ हो ॥ २५-३६ ॥

**शक्तिर्भिर्भिर्वद्यानि निर्दया इव पातिताः । निरयेष्विव निर्मग्नाः कृजन्ते प्रमथासुराः ॥ ३७ ॥**  
हेमकुण्डलयुक्तानि किरीटोक्टवयन्ति च । शिरांसुव्यर्णं पतन्ति स्त्र गिरिकूटा इवान्यये ॥ ३८ ॥  
परश्वर्यैः पट्टिशेष्व खड्डश्च परिघैस्तथा । छिन्नाः करिवराकारा निपेतुस्ते धरातले ॥ ३९ ॥

गर्जन्ति सहसा हृष्टः प्रमथा भीमगर्जनाः । साव्रयन्त्यये सिद्धा युद्धगान्धर्वमद्भुतम् ॥ ४० ॥  
 वलवान् भासि प्रमथ दर्पितो भासि दानव । इति चोच्चरयन् वाचं चरणा रणवूर्गताः ॥ ४१ ॥  
 परिघैराहताः केचिद् दानवै शंकरानुगाः । वमन्ते रुधिरं वक्ष्वैः स्वर्णवालुमिवावलाः ॥ ४२ ॥  
 प्रमथैरपि नाराचैरसुराः सुरशब्दवः । द्वूमैश्व गिरिश्वैश्व गाढमेवाहवे हताः ॥ ४३ ॥  
 सूदितानथ तान् दैत्यान्तर्ये दानवपुद्गवाः । उत्क्षिप्य चिक्षिपुर्वाण्यां मयदानवचोदिता ॥ ४४ ॥  
 ते चापि भास्वरैद्वैः स्वर्गलोक इवामराः । उत्तस्युर्वाणीमासाद्य सद्वापाभरणाम्वराः ॥ ४५ ॥  
 अथैके दानवाः प्राप्य वापीप्रथेषणादसूद् । आस्कोट्य सिंहनादं च कृत्वा व्रावंस्तथातुराः ॥ ४६ ॥  
 दानवाः प्रमथानेतान् प्रसर्यत किमासथ । हतानपि हि वो वापी पुनर्हज्जीविष्यति ॥ ४७ ॥  
 शक्तिके आघातसे उनके हृदय छिन्न-भिन्न हो गये थे और वे दयाहीनकी भौति भूमिपर पड़े हुए थे । इस प्रकार प्रमथगण तथा असुरवृन्द नरकमे पड़े हुए जीवोंकी तरह चीत्कार कर रहे थे । सर्वनिर्मित कुण्डलों और प्रभाशाली किरीटोंसे युक्त वीरोंके मस्तक प्रलयकालमें पर्वतशिखरर्की भौति पृथ्वीपर गिर रहे थे । वे कुठार, पटा, खड़ग और लोहेंकी गदाके आघातसे छिन्न-भिन्न होकर गजेन्द्रोंके समान धराशायी हो रहे थे । कभी सहसा भयंकर गर्जना करनेवाले प्रमथगण हर्षपूर्वक गर्जना करने लगते तो इधर सिद्धगण अद्भुत युद्ध-कौशल दिखाते थे । रणभूमिमें आगे चलनेवाले चारण—‘प्रमथ ! तुम तो वलवान् मालूम पड़ते हो,’ ‘दानव ! तुम गर्वाले दीख रहे हो’—इस प्रकारके वचन बोल रहे थे । दानवोद्वारा चलाये गये लोहनिर्मित गदाके आघातसे कुछ पर्वदगण मुखसे रक्त

एवं श्रुत्वा शङ्कुकर्णो वचोऽग्रहसंनिभः । द्रुतमेवैन्य देवेशमिदं वचनमवर्वीत् ॥ ४८ ॥  
 सूदिताः सूदिता देव प्रमथैरसुरा ह्यमी । उत्तिष्ठन्ति पुनर्भीमाः सस्या इव जलोक्षिताः ॥ ४९ ॥  
 अस्मिन् किल पुरे वापी पूर्णमृतरसाम्भसा । निहता निहता यत्र धिसा जीवन्ति दानवाः ॥ ५० ॥  
 इति विश्वापयद् देवं शङ्कुकर्णो महेश्वरम् । अभवन् दानववल उत्पाता वै सुदारुणाः ॥ ५१ ॥  
 तारकाख्यः सुभीमाशो दारितास्यो हरिर्यथा । अभ्यधावत् सुसंकुद्रो महादिवरथ्य प्रति ॥ ५२ ॥  
 त्रिपुरे तु महान् घोरो भेरीशङ्करवो वभौ । दानवा निःसुना द्वष्टा देवेशवरथे सुरम् ॥ ५३ ॥  
 भूकम्पश्चाभवत्तत्र रथाङ्गोः भूगतोऽभवत् । द्वष्टा शोभमगाद्वद्वः स्वयम्भूश्च पितामहः ॥ ५४ ॥  
 ताभ्यां देववरिष्ठाभ्यामन्वितः स रथोत्तमः । अनायतनमासाद्य सीढते गुणवानिव ॥ ५५ ॥  
 धातुक्षये देह इव श्रीप्ते चाल्पमियोदकम् । शैथिल्यं याति स रथः संहो विप्रकृतो यथा ॥ ५६ ॥  
 रथादुत्पत्यात्मभूर्वं सीढन्तं तु रथोत्तमम् । उत्तहार महाप्राणो रथं चैत्येक्यस्पिणम् ॥ ५७ ॥  
 तदा शराद् विनिष्पत्य पीतवासा जनार्दनः । द्वृपस्पं महत्कृत्वा रथं जग्राह दुर्धरम् ॥ ५८ ॥

\* कुछ प्रतियांके अनुसार यहाँ यदि ‘शताङ्ग’ पाठ भी हो तो विष्णु आदि ऐकड़ों अद्भुत रथ ती अभिवेत होगा ।

स विष्णाभ्यां त्रैलोक्यं रथमेव महारथः । प्रगृह्योद्ग्रहते सज्जं कुलं कुलवहो यथा ॥ ५९ ॥  
 तारकाख्योऽपि दैत्येन्द्रो गिरीन्द्र इव पश्चवान् । अभ्यद्रवत्तदा देवं ब्रह्माणं हतवांश्च सः ॥ ६० ॥  
 स तारकाख्यभिन्नः प्रतोदं न्यस्य कृवरे । विजञ्चाल मुहुर्ब्रह्मा इवासं वक्त्रात् समुद्दिरन् ॥ ६१ ॥

दानवोको ऐसा कहते सुनकर सूर्यके समान तेजस्ती  
 शङ्कुकर्णने शीत्र ही देवेश्वर शकरजीके निकट जाकर  
 इस प्रकार कहा—‘देव ! प्रमयगणोद्धारा वारंवार मारे  
 गंयं यं भयकर अमुर पुनः उसी प्रकार जी उठते हैं,  
 जैसे जलके सिंघनसे सूखी हुई फसल । निश्चय हीं  
 इस पुरमे अमृतहृषी जलसे परिपूर्ण कोई वावली है,  
 जिसमें डाल देनेसे वारंवार मारे गंय दानव पुनः  
 जीवित हो जाने हैं ।’ इस प्रकार शङ्कुकर्णने भगवान्  
 महेश्वरको सूचित किया । उसी समय दानवोको सेनामें  
 अत्यन्त भीषण उत्पात होने लगे । तब परम भयानक  
 नेत्रोधाले तारकाक्षने अत्यन्त कुपित होकर सिंहकी तरह  
 मुहु फैलाये हुए महादंतर्जीके रथपर धावा किया । उस  
 समय त्रिपुरमें भेरियो और शङ्कोंका महान् भीषण निनाढ  
 होने लगा । देवाविदेव शंकरजीके रथपर ( शंकर और )  
 ब्रह्माको उपस्थित देखकर दानवगण त्रिपुरसे बाहर निकले ।  
 तभी वहाँ ऐसा भयकर भूकम्प आया, जिससे ( शिवजीके )  
 रथका चक्रा पृथ्वीमें प्रविट हो गया । यह देखकर भगवान्  
 सद्गुरु और स्वयम्भू ब्रह्मा क्षुब्ध हो उठे । उन दोनों देवश्रेष्ठोंसे

युक्त वह उत्तम रथ कहीं ठहरनेका स्थान न पाकर  
 स्थानरहित गुणी पुरुषकी तरह विपत्तिप्रस्त हो गया ।  
 वह रथ वीर्यनाश हो जानेपर शरीर, श्रीम ऋतुमें अल्प  
 जलत्राले जलाशय और निरस्कृत स्नेहकी तरह शियिलता-  
 को प्राप्त हो गया । इस प्रकार जब वह श्रेष्ठ रथ नीचं  
 जाने लगा, तब महावली स्वयम्भू ब्रह्माने उससे कूदकर  
 उस त्रैलोक्यहृषी रथको ऊपर उठा दिया । इतनेमें हीं  
 पीताम्बरवारी भगवान् जनार्दनं वाणसे निकलकर विशाल  
 वृपमका रूप धारण किया और उस द्वर्वर रथको उठा  
 दिया । वे महारथी जनार्दन विलोकीरूप उस रथको  
 अपने सींगोपर उठाकर उसी तरह दो रहे थे, जैसे कुलपति  
 अपने संगठित कुलका भार वहन करता है । उसी  
 समय पक्षधारी गिरिजाकी तरह विशालकाश दैत्येन्द्र  
 तारकासुरने भी देवेश्वर ब्रह्मापर धावा बोल दिया और  
 उन्हे धायल कर दिया । तब तारकासुरके प्रहारसे धायल हुए  
 ब्रह्मा रथके कूवरपर चालुक रखकर मुखसे वारंवार लम्बी  
 सॉस छोड़ते हुए ( कोवसे ) प्रज्वलित हो उठे ॥ ४८—६१ ॥

तत्र	दैत्यैर्महानादो	दानवैरपि	भैरवः । तारकाख्यस्य पूजार्थं कृतो जलधरोपमः ॥ ६२ ॥
रथचरणकरोऽथ	महामृद्ये	ब्रूपभवपुर्वप्मेन्द्रपूजितः ।	
		द्वितितनयवलं विमर्द्य सर्वं त्रियुपरुं प्रविवेश केशबः ॥ ६३ ॥	
स जलजलदग्नजितां	स्मस्तां	कुन्तुदवरोत्पलफुललयङ्काजाद्याम् ।	
		सुरगुहरपिवन् पशोऽसृतं तद्रविरिघ संचितशार्वरं तमोऽन्धम् ॥ ६४ ॥	
वार्षा	पीत्वासुरन्दाणां	पीत्वासा	जनार्दनः ।
ततोऽसुरा	भीमगणेश्वरैर्हताः	नर्दमानो	महावाहुः प्रविवेश शरं ततः ॥ ६५ ॥
स तारकाख्यस्तदिमालिर्व	परगङ्गामुखा	महावाहुः	प्रविवेश शरं ततः ॥ ६५ ॥
गणेश्वराभ्युदयनदर्पकाशिनो	महेन्द्रनन्दीश्वरपणमुखा	परगङ्गामुखैः कृता रणे यथा नयाभ्युद्यततन्परैर्नैः ॥ ६६ ॥	
	पुरं परावृत्य तु ते शरार्दिना यथा शरीरं पवनोदये गताः ॥ ६७ ॥		
	विनेदुरुच्चैर्जहसुश्च दुर्मदा जयेम चन्द्रादिदिगीश्वरैः सह ॥ ६८ ॥		
इति श्रीमात्स्यं महापुराणं त्रिपुरदाहे पट्टिंगदधिकशततमोऽन्यायः ॥ १३६ ॥			

अध्याय १३७ ] \* वापी-शोषणसे मर्यको चिन्ता तथा मर्य आदि दानवोंका त्रिपुरसहित समुद्रमें प्रवेश \* ४८९

वहाँ दैत्य और दानव तारकासुरका सत्कार करनेके पुनः उसी बाणमें प्रविष्ट हो गये । तत्पश्चात् भयावने लिये मैथीकी गर्जनाके समान अत्यन्त भयंकर सिहनाद मुखवाले भयंकर गणेश्वरोंने असुरोंको मारना प्रारम्भ करने लो । यह देखकर वृषभका शरीर धारण करनेवाले किया । उनके प्रहारसे धायल हुए दानवोंके रुधिरसे एवं शंकरद्वारा पूजित भगवान् केशव हाथमें सुदर्शन नदियों वह चर्ली । वे उसी प्रकार युद्धविमुख कर दिये चक्र धारण कर उस महासमरमें दैत्योंकी सारी गये, जैसे नयशील पुरुष अन्यायियोंको चिमुख कर देते सेनाओंका मर्दन करते हुए त्रिपुरमें प्रविष्ट हुए । वहाँ हैं । इस प्रकार प्रमथगणोंद्वारा खटेडे गये एवं वाणोंके वै. उस बाबलीपर जा पहुँचे, जो चारों ओरसे प्रहारसे धायल मर्यके साथ तारकासुर और विद्युन्माली बादलोंसे सुशोभित तथा खिली हुई कुमुदिनी, नीलकमल त्रिपुरमें ऐसे लौट आये, मानो उनके शरीरसे प्राण ही और अन्यान्य कमलोंसे व्याप थी । फिर तो उन निकल गये हो । उस समय युद्धस्थलमें महेन्द्र, नन्ठीश्वर देवश्रेष्ठने उसके अमृतहृषी जलको इस प्रकार पी लिया, और सामिकार्तिक गणेश्वरोंके साथ दर्पसे सुशोभित हो जैसे सूर्य रात्रिमें संचित हुए धने अन्वकारको पी जाते हैं थे । वे उन्मत्त होकर सिहनाद एवं अद्वाम करते हैं । इस प्रकार पीतम्बवधारी महावाहु जनर्दन हुए कहने लगे कि अब चन्द्रमा आदि दिक्पालों असुरेन्द्रोंकी बाबलीका अमृत पीकर सिहनाद करते हुए सहित हमलोग अवश्य विजयी होगे ॥ ६२-६८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्यमहापुराणके त्रिपुरदाह्यप्रसङ्गमें एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३६ ॥

## एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय

वापी-शोषणसे मर्यको चिन्ता, मर्य आदि दानवोंका त्रिपुरसहित समुद्रमें प्रवेश तथा  
शंकरजीका इन्द्रको युद्ध करनेका आदेश

सूत उवाच  
प्रमथैः समरे भिन्नस्त्वैपुरास्ते सुरायः । पुरं प्रविविश्वर्भातः प्रमथैर्भग्नोपुरम् ॥ १ ॥  
शीर्णदंशा यथा नाना भग्नशृङ्गा यथा वृपाः । यथा विपक्षाः शकुना नवः शीणोदका यथा ॥ २ ॥  
सूतप्रायास्तथा वैत्या दैत्यै दैत्यैर्विकृतानानाः । वभूवुस्ते विमनसः कर्यं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ३ ॥  
कृत्वा युद्धानि म्लानमनसस्तदा पश्चात् तामरसाननः । उवाच दैत्यो दैत्यानां परमाधिपतिर्मयः ॥ ४ ॥  
यत्रं यत्रं प्रथमं दैत्याः पश्चात् वल्योडिताः । तोपयित्वा तथा युच्चे प्रमथानमर्मैः सह ॥ ५ ॥  
अप्रियं क्रियते दृथकं द्रेवैर्स्त्यत्र संशयः । यत्र नाम महामागः प्रविशन्ति गिरेवनम् ॥ ६ ॥  
अहो हि कालय बलमहो कालो हि दुर्जयः । यत्रेदशस्य दुर्गस्य उपरोधोऽयमागतः ॥ ७ ॥  
मर्ये विवदमने तु नर्दमान इवाम्बुदे । वभूवुर्विष्मा दैत्या ग्रहा इन्दूद्वये यथा ॥ ९ ॥  
सूतजी कहते हैं—कृपियो ! इस प्रकार समर- सांगेवाले सौँड, ढैनेरहित पनी और कीण जलवाली  
भूमिमें प्रमथाणोद्वारा धायल क्रिये, गये त्रिपुरवासी नदियों शोभाहीन हो जाती है, उसी प्रकार देवताओंके  
देवशत्रु दानव भयमीत होकर त्रिपुरमें लौट गये । उस प्रहारसे दैत्यबृन्दः मृतप्राय हो गये थे । उनके मुख  
समय प्रमथोंने त्रिपुरके काटकको भी नष्ट-भ्रष्ट कर चिकृत हो गये थे और वे विन्न मनमे कह रहे थे कि  
दिया था । जैसे नष्ट हुए दातोंवाले सर्प, दूटे हुए अब क्या किया जाय ? तब कमल-सद्वा मुखवाले दैत्योंके

चक्रवर्ती सप्ताह मय दैत्यने उन मलिन मनवाले दैत्योंमें पर्वतीय वनोंमें छिप रहे हैं । अहो ! कालका बढ़ कहा—‘दैत्यो । इसमें संदेह नहीं है कि तुमलोगोंने पहले युद्धमिमें देवताओंसहित प्रमथगणोंके साथ भयंकर युद्ध करके उन्हे संतुष्ट किया है, किंतु पीछे तुमलोग देवसेनासे पीड़ित और प्रमथोंके प्रहारसे अत्यन्त शाश्वत होकर भयवश नगरमें भाग आये हो । निससंदेह देवगण प्रकटखृपमें हमलोगोंका अग्रिय कर रहे हैं, इसी कारण ये महान् भाग्यशाली दैत्य इस समय भागकर मलिन हों जाने हैं ॥ १० ॥

वार्षीपालास्ततोऽभ्येत्य नभः काल इवाम्बुद्धः । मयगाहुर्चमप्रख्यं स्वाद्वलिप्रग्रहः स्थिताः ॥ ११ ॥  
 या सामुतरसा गृहा वार्षी वै निर्मिता त्वया । समाकुलोत्पलयना भर्मीनकुलपद्मजा ॥ १२ ॥  
 पीता सा वृषप्रसापग केनचिद् दैत्यनायक । वार्षी ना साम्प्रतं दृष्टा भृतसंवा इवाद्धना ॥ १३ ॥  
 वार्षीपालवचः श्रुत्वा मयोऽन्मौ दानवप्रसुः । कष्टुमित्यस्त्रून् प्रोच्य दिनिजालिदमवर्वान् ॥ १४ ॥  
 मया मायावलकृता वार्षी पीता न्वियं यदि । विनष्टः स न संदेहमिपुरुं दानवा गतम् ॥ १५ ॥  
 निहतान् निहतान् दैत्यानाजीवयनि दैत्यतैः । पीता वा यदि वा वार्षी पीता वै पीतवाससा ॥ १६ ॥  
 कोऽन्मो मन्मायया गुप्तां वार्षीमसृततोयिनीम् । पात्यने विष्णुमजिनं वर्जयित्वा गदाधरम् ॥ १७ ॥  
 सुगुह्यमपि दैत्यानां नास्त्यस्याविदितं भुवि । यत्र मद्वरकैश्चल्यं विग्रानं न वृतं दुर्घेः ॥ १८ ॥  
 समोऽयं रुचिरो देशो निर्दुमो निर्दुमाच्चलः । नवास्मःपुरितं कृत्वा वाधन्तेऽस्मान् भस्मणाः ॥ १९ ॥  
 ते यूयं यदि भव्यच्च सागरोपरि विष्ठिताः । प्रमथानां महावेगं सहामः श्वसनोपमम् ॥ २० ॥  
 पतेयां च समारम्भास्तस्मिन् सागरसम्प्लवे । निष्टत्साहा भविष्यन्ति पतद्वयपथाच्चृताः ॥ २१ ॥  
 शुद्धतां निष्प्रतां शत्रून् भीतानां च द्रविष्यताम् । सागरोऽस्वरसद्वायाः शरणं नो भविष्यन्ति ॥ २२ ॥  
 इत्युक्त्वा म मयो दैत्यो दैत्यानागविष्पत्तदा । विष्णुरेण यत्रो तर्णं सागरं स्तिष्ठुचान्वयम् ॥ २३ ॥  
 सागरे जलगम्भीर उत्पयान पुरं वरम् । अवतस्युः पुराणवेष गोपुराभरणानि च ॥ २४ ॥

इसी समय वर्षीकीन मेघकी तरह शरीरधारी वाक्लीके रक्षक दैत्य यमाज-महश भयंकर मयके निकट आकर हाथ जोड़कर ( अभिवादन करके ) खड़े हो गये और इस प्रकार बोले—‘दैत्यनायक ! आपने अमृतखण्डी जलसे भरी हृदृ जिस गुप्त वाक्लीका निर्माण किया था, जो नील कमल-बनसे व्याप्त थी तथा जिसमें मद्विद्याँ और विभिन्न प्रकारके भी कमल भरे हुए थे, उसे वृषप्रसापवारी किसी देवताने पी छिया । इस समय वह वाक्ली मूर्च्छित हृदृ सुन्दरी छोटी भौंनि दीवा रही है ।’ वाक्लीके रक्षकोंसी बात सुनकर दानवराज मय ‘कष्ट है—ऐसा कई बार बहुत दैत्योंसे इस प्रकार बोला—‘दानवो ! मेरेद्वारा मायाके बद्दले रची हृदृ वाक्लीको यदि किसीने पी

छिया तो निश्चय समझो कि हमलोग नष्ट हो गये और विष्णुको भी गया हुआ ही समझो । हाय ! जो देवताओंद्वारा वार-वार मारे गये दैत्योंको जीवन-दान देती थी, वह वाक्ली पी ली गयी ! यदि वह सचमुच पी ली गयी तो ( निश्चय ही ) उसे पीताम्बरवारी विष्णुने ही पीशा होगा । भला, गश्वारी अजेय विष्णुको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा समर्थ है, जो मेरी मायाद्वारा गुप्त एवं अमृतखण्डी जलसे भरी हृदृ वाक्लीसे पी सकेगा ? भूतप्राप्त दैत्योंकी गुप्त-से-गुप्त ब्रात विष्णुसे अज्ञान नहीं है । मेरी वर-प्राप्तिकी कुशलता, जिसे विद्वान्-व्योग नहीं जान सके, विष्णुसे छिपी नहीं है । हमरा यह देश सुन्दर और समकल है । यह चूँज और पर्वतसे रहित है ।

अध्याय १३७ ] \* वाणी-शोषणसे मर्यादा चिन्ता तथा मर्यादा आदि दानंवैका त्रिपुरसहित समुद्रमें प्रवेश \* ४९१

पिर भी मरुदगण इसे नूतन जलसे परिपूर्ण करके हमलोगोंको बाबा पहुँचा रहे हैं। इसलिये यह तुम्हें और वर्हासे प्रमथोंके बायाँ और वर्हासे मर्यादोंके सामान महान् वेगको सहन करे। सागरकी उस बाढ़में इनका सारा उद्योग उसाहीन हो जायगा और उस विशाल रथका मार्ग रुक जायगा। इसलिये युद्ध करते समय, शत्रुओंको सहित तीनों पुर यथास्थान स्थित हो गये ॥१०-२३॥

अपक्रान्ते तु त्रिपुरे त्रिपुरारिखिलोचनः । पितामहसुवाचेद् वेदवादविशारदम् ॥ २४ ॥  
पितामह दृढं भीता भगवन् दानवा हि नः । विपुलं सागरं ते तु दानवाः समुपाश्रितः ॥ २५ ॥  
यत् पव विहृते याताखिपुरेण तु दानवाः । तत् एव रथं दूर्णं प्रापयस्त्र पितामह ॥ २६ ॥  
सिंहनादं ततः कृत्वा देवा देवरथं च तम् । परिवार्यं यथुर्ष्प्राः सायुधाः पश्चिमोदधिम् ॥ २७ ॥  
ततोऽमरमरगुरुं परिवार्यं भवं हरम् । नर्दयन्तो यथुस्तूर्णं सागरं दानवालयम् ॥ २८ ॥

अथ असुरवरपुरेऽपि दनुतनयनिनादमित्रितः त्रिदशगणपतिः सुराणामरिमृगयामददात् चारुपताकभूषितं देवता पटहाडम्बरशङ्खनदितम् । विविधवला ननुर्यथा घनाः ॥ २९ ॥  
अथ भुवनपतिर्गतिः सुराणामरिमृगयामददात् चारुपताकभूषितं देवता पटहाडम्बरशङ्खनदितम् । जलधररावमृदङ्गगहरः । संशुभितार्णवोपमः ॥ ३० ॥  
त्रिदशगणपतिं ह्युवाच शकं त्रिपुरगतं सहसा निरीक्ष्य शत्रुम् ॥ ३१ ॥  
यमवस्थानुबोधप्रसुखेत्तत् वज जलधेसु यतः पुराणि तस्थुः । विहितं परवलभिंवात्भूतं दानवाः प्रविष्टाः ॥ ३२ ॥  
त्रिदशगणपते निशामयैतत् त्रिपुरनिकेतनं दानवाः प्रविष्टाः ॥ ३३ ॥  
इति परिगणयन्तो भवः समर्थो ह्यदधिमगात् त्रिपुरं पुनर्निहन्तुम् ॥ ३४ ॥  
अभिभवत् त्रिपुरं सदानवेन्द्रं शरवर्षं मुसलैश्च वज्रमित्रैः ॥ ३५ ॥  
अहमपि रथवर्यमास्थितः सुरवरवर्यं भवेय पृष्ठतः । इति असुरवरवधर्थसुवृत्तानां प्रतिविदधामि सुखाय तेऽनघ ॥ ३६ ॥  
इति भववचनप्रचोदितो दशशतनयनवपुः समुद्धतः । त्रिपुरपुरजिधांसया हरिः प्रविकसिताम्युजलोचनो ययौ ॥ ३७ ॥

इस प्रकार त्रिपुरके दूर हृषि जानेपर त्रिपुरारि शीत्र ही मेरे रथको वहौं पहुँचाइये । तब  
भगवान् रौं रुने वेद्वादमें निपुण ब्रह्मसे इस प्रकार कहा—“ऐश्वर्यशाली पितामह ! दानवगण हमलोगोंसे आयुधधारी देवगण हर्षपूर्वक सिंहनाद करके और उस देवरथको चारों ओरसे धेरकर पश्चिम सागरकी ओर चल पड़े । तत्पश्चात् देवगण देवश्रेष्ठ भगवान् शंकरको चारों ओरसे धेरकर सिंहनाद करते हुए शीत्र ही दानवोंके निवासस्थान सागरकी ओर प्रस्त्रित हुए । वहौं

पहुँचनेपर सुन्दर पताकाओंसे त्रिभूषित तथा दोल, नगारे और शहदके शब्दोंमें निनादित त्रिपुरको देखकर अनेकों सेनाओंसे सम्पन्न देवगण बादलोंकी तरह गर्जना करने लगे । उभर अमुश्रेष्ठ मयके पुरमें भी दानवोंके सिंहनाडके साथ-साथ मेघ-गर्जनाके सदृश मृदंगोंका भयंकर एवं गम्भीर शब्द हो रहा था, जो क्षुब्ध हुए महासागरकी गर्जनाके समान प्रतीत हो रहा था । तदनन्तर देवताओंके आश्रयस्थान प्रभ्युत्पन्नमति त्रिमुत्रन-पति शकर शत्रुओंका शिकार करनेके लिये उद्यत हो गये । तब उन्होंने सहमा शत्रुओंको त्रिपुरमें प्रवेश करते देखकर देवताओं और गणोंके सेनानायक इन्द्रसे इस प्रकार कहा—“देवताओं और गणेश्वरोंके नायक इन्द्र ! आपलों मेरी यह वात मुनें । दानवलोग अपने निवासस्थान त्रिपुरमें छुस गये हैं, अतः आप यम, वरुण, कुवेर, कार्तिकेय तथा गणेश्वरोंको साथ लेकर इनका संहार उद्यिक्त करें । त्रिपुरके विनाशकी इच्छासे उद्यत होकर आगे बढ़े ॥ २४-३६ ॥

उम प्रकार श्रीमत्यमहापुराणमें त्रिपुरग्रन्थ नामक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३७ ॥

## एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय

देवताओं और दानवोंमें व्रमासान युद्ध तथा तारकामुखका वध

सूत उच्चाच

मघवा तु निहन्तुं तानमुरानमरेश्वरः । लोकपाला ययुः सर्वं गणपालाश्च सर्वगः ॥ १ ॥  
 ईश्वरेणोर्जिताः भर्व उन्तेतुश्चास्वरे तदा । खगतास्तु विरेजुस्ते पश्ववन्त इवाच्चलाः ॥ २ ॥  
 प्रयग्युस्तत्पुरं हन्तुं शर्वरमिव व्याधयः ।  
 शङ्खाडमवरनिर्गोप्यैः पणवान पटहानपि । नादयनः पुरो देवा दृष्टिपुरवाभिभिः ॥ ३ ॥  
 हरः प्राप्त इन्द्रियोऽन्वा वलिनस्ते महामुरा । आजम्बुः परमं धोभमत्ययेष्विव सागराः ॥ ४ ॥  
 मुरतर्यरचं श्रुत्वा दानवा भीमदर्शनाः । निनेदुर्वाद्यन्तथ नानावद्यान्यनेकशः ॥ ५ ॥  
 भूयोदीरितर्वार्यास्ते परस्परकृतागसः । पूर्वेद्वाश्च देवाश्च सूदयन्तः परस्परम् ॥ ६ ॥  
 आकोशेऽपि भमपर्यं तेषां देहनिकृत्वनम् । प्रवृत्तं युद्धमतुलं प्रहारकृतनिःस्वनम् ॥ ७ ॥  
 निष्पतन्त इवादित्याः प्रज्वलन्त इवान्यथः ।  
 शंसन्त इव नगेन्द्रा भ्रमन्त इव पक्षिणाः । गिरीन्द्रा इव कम्पन्तो गर्जन्त इव तोयद्वाः ॥ ८ ॥  
 जृम्भन्त इव शार्दूलाः प्रदान्त इव वायवः । प्रवृद्धोर्मिनरझौदाः श्रुभ्यन्त इव सागराः ॥ ९ ॥  
 प्रमथश्च महादूरा दानवाश्च महावलाः । युयुधुर्निश्चला भूत्वा वज्रा इव महाचलैः ॥ १० ॥  
 सूतजी कहते हैं—ऋग्यो ! अकरजीहारा उत्साहित गणपाल सब ओरसे उन असुरोंका वध करनेके क्रिये जानेपर देवराज इन्द्र, सभी लोकपाल और लिये चले और आकाशकी ओर उड़ल पड़े । आकाशमें

पहुँचकर, वे पंखधारी पर्वतकी तरह शोभा पाने लगे। तत्पश्चात् वे शब्द और डंकेके निर्धोषके साथ-साथ ढोलें और नगाङोंको पीटते हुए त्रिपुरका विनाश करनेके लिये उसी प्रकार आगे बढ़े, जैसे व्याधियाँ शरीरको नष्ट कर देती हैं। इतनेमें त्रिपुरवासी दानवोंने देवगणोंको आगे बढ़ते हुए देख लिया। फिर तो वे महाबली असुर 'शंकर (यहाँ भी) आ गये'—ऐसा कहकर प्रलयकालीन सागरोकी तरह परम क्षुब्ध हो उठे। तब भयंकर रूपधारी दानव देवताओंकी तुरहियोंका शब्द सुनकर नाना प्रकारके बाजे बजाते हुए बारंबार उच्च स्तरसे गर्जना करने लगे। तत्पश्चात् पुनः पराक्रम प्रकट करनेवाले वे दानव और देव परस्पर कुद्ध होकर एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे। दोनों सेनाओंमें समानरूपसे

कार्षुकाणां विकृष्टानां चभूवुर्द्धरुणा रवाः। कालानुगानां मेघानां यथा वियति वायुना ॥ ११ ॥  
आहुश्च युद्धे मा भैषीः क्व यास्यसि मृतो ह्यसि। प्रहराश्च स्थितोऽस्म्यत्र एहि दर्शय पौरुषम् ॥ १२ ॥  
गृहाण छिन्धि भिन्धीति खाद मारय दारय। इत्यन्योऽन्यमनूर्जार्यं प्रयुर्युर्मसादनम् ॥ १३ ॥  
खड्गापवर्जिताः केचित् केचिच्छिन्ना परश्वधैः। केचिन्सुदूरचूर्णाश्च केचिद् वाहुभिराहताः ॥ १४ ॥

पट्टिशैः सूदिताः केचित् केचिच्छूलविदारिताः ।

दानवाः शरपुण्याभाः सघना इव पर्वताः। निपत्त्यर्णवजले भीमनक्तिर्मिगिले ॥ १५ ॥  
व्यसुभिः सुनिवद्धाङ्गैः पतमानैः सुरेतरैः। सम्ब्रूवार्णवे शब्दः सजलास्वदनिःस्वनः ॥ १६ ॥  
तेन शब्देन मकरा नकास्त्तिमितिर्मिगिलाः। मत्ता लोहितगन्धेन क्षेम्यन्तो महर्णवम् ॥ १७ ॥  
परस्परेण कलहं कुर्वाणा भीमसूर्तयः। भ्रमन्ते भक्षयन्तश्च दानवानां च लोहितम् ॥ १८ ॥  
सरथान् सायुधान् साश्वान् सवध्नाभरणावृतान्। जग्रसुस्तिमयो दैत्यान् द्रावयन्तो जलेचरान् ॥ १९ ॥  
भृष्टं यथासुराणां च प्रमथानां प्रवर्तते। अम्बरेऽस्मसि च तथा युद्धं चकुर्जलेचराः ॥ २० ॥

जैसे आकाशमें वायुद्वारा प्रेरित किये जानेपर व्यसुभिनां मेघोंकी गर्जना होती है, उसी तरह खींचे जाते हुए धनुषोंके भीपण शब्द हो रहे थे। युद्धभूमिमें दोनों ओरके बीर परस्पर 'मत डरो, कहाँ भागकर जाओगे, अब तो तुम मरे ही हो, शीव्र प्रहार करो, मै यहाँ खड़ा हूँ, आओ और अपना पुरुषार्थ दिखाओ, पकड़लो, काट डालो, विदीर्ण कर दो, खा लो, मार डालो, फाड़ डालो'—ऐसा शब्द बोल रहे थे और पुनः शान्त होकर यमलोकके पथिक वन जाते थे। उनमेंसे कुछ बीर तलवारसे काट डाले गये थे, कुछ फरसोंसे

सिंहनाद हो रहे थे। उनके शरीर कट-कटकर गिर रहे थे। फिर तो प्रहार करनेवालोंकी गर्जनाके साथ-साथ अनुपम युद्ध छिड़ गया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो अनेको सूर्य गिर रहे हैं, अग्नियों प्रज्ञलित हो उठी हैं, विषधर सर्प फुफकार मार रहे हैं, पक्षी आकाशमें चक्कर काट रहे हैं, पर्वत काँप रहे हैं, बादल गरज रहे हैं, सिंह जमुहाई ले रहे हैं, भयानक झांझावात चल रहा है और उछलती हुई लहरोंके समूहसे सागर क्षुब्ध हो उठा है। इस प्रकार महान् शूरवीर प्रमथ और महाबली दानव उसी प्रकार डटकर युद्ध कर रहे थे, जैसे महान् पर्वतोंसे टकरानेपर भी बज्र अठल रहता है ॥ १-१० ॥

छिन्न-भिन्न कर दिये गये थे, कुछ सुदूरगरोकी मारसे चूर्ण-सरीखे हो गये थे, कुछ हाथके चपेटोंसे धायल कर दिये गये, कुछ पट्टिशों (पटों) के प्रहारसे मार डाले गये और कुछ शूलोंसे विदीर्ण कर दिये गये। सरपतके फूलकी-सी कान्तिगिले दानव वनसहित पर्वतोंकी तरह भयकर नाक और तिर्मिगिलोंसे भरे हुए समुद्रके जलमें गिर रहे थे। दानवोंके कवच आदिसे भलीमौति बैधे हुए प्राणरहित शरीरोंके समुद्रमें गिरनेसे सजल जलधरकी गर्जनाके समान शब्द हो रहा था। उस शब्दसे तथा दानवोंके स्विरकी गन्धसे मतवाले हुए

मगर, नाक, तिमि और तिमिगिल आदि जन्तु महामागरको क्षुब्ध कर रहे थे। वे भयंकर आकारवाले जलजन्तु परस्पर झगड़ते हुए दानवोंका रुधिर पान कर चक्कर काट रहे थे। यूथ-के-यूथ मगरमच्छ अन्य जल-जन्तुओंको खेड़ेकर रथ, आयुध, अश्व, वधु और आमृणोंसहित दैत्योंको निगल जाते थे। जिस प्रकार आकाशमें दानवों और प्रमवोंका युद्ध चल रहा था, उसी तरह समुद्रमें जल-जन्तु (दानवोंको खानेके लिये) परस्पर लड़ रहे थे॥ ११-२० ॥

यथा भ्रमन्ति प्रमथाः सदैत्यास्तथा भ्रमन्ते निमयः सनकाः ।

यथैव छिन्दन्ति परस्परं तु तथैव क्लन्दन्ति विभिन्नदेहाः ॥ २१ ॥

घणाननैरह्लसं लवद्धिः सुरासुरैर्नक्तिर्मिगिलैश्च ।

कृतो मुहूर्तेन समुद्रदेहाः सरक्तोयः समुद्रीर्णतोयः ॥ २२ ॥

पूर्वं महाभोधरपर्वताभं द्वारं महान्तं त्रिपुरस्य शकः ।

निषीढ्य तस्यौ महता वलेन युक्तोऽमराणां महता वलेन ॥ २३ ॥

तयोत्तरं सोऽन्तरज्ञो हरस्य वालार्जुनाम्बूद्धतुल्यवर्णः ।

स्कन्दः पुरद्वारमथासुरोह त्रुद्गोऽस्तशृङ्गं प्रपत्निश्चार्कः ॥ २४ ॥

यमश्च वित्ताधिपतिश्च देवो दण्डान्वितः पाणवरायुद्धश्च ।

देवारिणस्तस्य पुरस्य द्वारं ताम्यां तु तत्पद्धिमतो निरद्वम् ॥ २५ ॥

दक्षारिखद्वस्तपनायुताभः स भास्यता देवरथेन देवः ।

तद्दक्षिणाद्वारमरेः पुरस्य रुद्ध्यावनस्यो भगवांस्तिवेत्रः ॥ २६ ॥

तुङ्गानि चेद्यमानि सगोपुराणि स्वर्णानि कैलासशशिप्रभाणि ।

प्रहादसुपाः प्रमथावरद्वा उत्तोर्तीषि मेवा इव चाद्यमर्याः ॥ २७ ॥

उत्पाद्य चोत्पाद्य गृहाणि तेषां सशैलमालासमवेदिकानि ।

प्रक्षिप्य प्रक्षिप्य समुद्रमध्ये कालाम्बुदाभाः प्रमथा विनेदुः ॥ २८ ॥

रक्तानि चाशेषवनैर्युतानि साशोकखण्डानि सकोकिलानि ।

गृहाणि हे नाथ पितः सुतेति भ्रातेति कान्तेति प्रियेति चापि ।

उत्पाद्यमानेषु ग्रहेषु तार्यस्त्वनार्यशब्दान् विविधान् प्रचक्षुः ॥ २९ ॥

कलत्रपुत्रक्षयप्राणनाशे तस्मिन् पुरे युद्धमतिप्रवृत्ते ।

महासुराः सागरतुल्यवेगा गणेश्वराः कोपवृत्ताः प्रतीयुः ॥ ३० ॥

परद्वयैस्तत्र शिलोपलैद्य विशूलवज्रोत्तमकम्पनैश्च ।

शरीरसदाक्षपणं सुधोरं युद्धं प्रवृत्तं दृढवैरवद्वम् ॥ ३१ ॥

अन्योऽन्यसुद्दिद्य विमर्दतां च प्रधावतां चैव विनिज्ञतां च ।

शशो वभूवाभरदानवानां युगान्तकालेष्विव सागराणाम् ॥ ३२ ॥

उस समय जैसे आकाशमें प्रमयगण दैत्योंके साथ यूद्ध करते हुए चक्कर काट रहे थे, वैसे ही जलमें मगरमच्छ नाकोंके साथ झगड़ते हुए घूम रहे थे। जैसे देवता और दानव परस्पर एक-दूसरेके शरीरको काट रहे थे, वैसे ही मगरमच्छ और नाक भी एक-दूसरेके शरीरको त्रिदीर्ण कर चीक्कार कर रहे थे। देवताओं, असुरों, नाकों और तिमिगिलोंके धावों और मुखोंसे वहते हुए रुधिरसे समुद्रके उस प्रदेशका जल मुहूर्तमात्रके लिये रक्तयुक्त हो गया और वहाँ वाढ़ आ गयी। उस त्रिपुरका पूर्वद्वार अत्यन्त विशाल और काले मेव तथा पर्वतके समान कान्तिमान् था। महान् वलशाली इन्द्र देवताओंकी विशाल सेनाके साथ उस द्वारको अवरुद्ध कर खड़े थे। उसी प्रकार उद्यकालीन सूर्य और सुवर्णकं तुल्य रंगवाले शंकरजीके आत्मज

स्कन्द त्रिपुरके उत्तरद्वारपर ऐसे चढ़े हुए थे मानो बढ़े हुए सूर्य अस्ताचलके शिखरोंपर चढ़ रहे हों। दण्डधारी यमराज और अपने श्रेष्ठ अख पाशको धारण किये हुए कुबेर—ये दोनों देवता उस देवशत्रु मयके पुरके पश्चिम-द्वारपर धेरा ढाले हुए थे। दस हजार सूर्योंकी-सी आभावाले दक्षके शत्रु त्रिनेत्रधारी भगवान् रुद्रदेव उस उद्दीप देवरथपर आरूढ़ होकर शत्रु-नगरके दक्षिण-द्वारको रोककर स्थित थे। उस त्रिपुरके फाटकोंसहित स्वर्णनिर्मित ऊँचे-ऊँचे महलोंको, जो कैलास और चन्द्रमाके सदृश चमक रहे थे, प्रसन्न मुखवाले प्रमयोंने उसी प्रकार अवरुद्ध कर रखा था, जैसे उपलोंकी वर्षा करनेवाले मेघ ज्योतिर्गणोंको धेर लेते हैं। काले मेघकी-सी कान्तिवाले प्रमयगण दानवोंके पर्वतमालाके सदृश ऊँची-ऊँची वेदिकाओंसे युक्त गृहोंको, जो लाल वर्णवाले तथा अशोक-वृक्षों एवं अन्यान्य वनोंसे युक्त थे और जिनमें कोयलें कूक रही थीं, उखाड़-उखाड़कर लगातार

समुद्रमें फेंक रहे थे और उच्च स्वरसे गर्जना कर रहे थे। गृहोंको उखाड़ते समय उनमें रहनेवाली खियाँ हे नाथ। हा पिता ! अरे पुत्र ! हाय भाई ! हाय कान्ति ! हे प्रियतम !’ आदि अनेक प्रकारके अनायोचित शब्द बोल रही थीं। इस प्रकार जब उस पुरमें ली, पुत्र तथा प्राणका विनाश करनेवाला अत्यन्त भीषण युद्ध होने लगा, तब सागरतुल्य वेगशाली महान् असुर और गणेश्वर क्रोधसे भर गये। फिर तो कुठार, शिलाखण्ड, त्रिशूल, श्रेष्ठ वज्र और कर्पन\* ( एक प्रकारका शख ) आदिके प्रहारसे शरीर और गृहको विनष्ट करनेवाला अत्यन्त धोर युद्ध अरम्भ हो गया; क्योंकि दोनों सेनाओंमें सुदृढ़ वैर बँधा हुआ था। परस्पर एक-दूसरेको लक्ष्य करके मर्दन, आक्रमण और प्रहार करनेवाले देवताओं और दानवोंका प्रलयकालमें सागरोंकी गर्जनाकी भौति भीषण शब्द होने लगा ॥ २१-३२ ॥

व्रणैरजस्तं क्षतजं वमन्तः कोपोपरका बहुधा नदन्तः ।

गणेश्वरास्तेऽसुरपुंगवाद्य युध्यन्ति शब्दं च महदुद्धिरन्तः ॥ ३३ ॥

मार्गाः पुरे लोहितकर्दमाक्ताः स्वर्णेष्टकासफाटिकभिन्नचित्राः ।

कृता मुहूर्तेन सुखेन गन्तुं छिन्नोत्तमाङ्गाङ्गविकराः करालाः ॥ ३४ ॥

कोपावृताक्षः स तु तारकाख्यः संख्ये सवृक्षः सगिरिर्निलीनः ।

तस्मिन् क्षणे द्वारवरं रिक्षो रुद्रं भवेनाहृतविक्रमेण ॥ ३५ ॥

स तत्र प्राकारगतांश्च भूताङ्गशान्तान् महानहृतवीर्यसत्त्वः ।

चचार चाप्तेन्द्रियगर्वदृष्टः पुराद् विनिष्कस्य ररास धोरम् ॥ ३६ ॥

ततः स दैत्योत्तमपर्वतामो यथाङ्गसा नाग इवाभिमत्तः ।

निवारितो रुद्ररथं जिघुक्षुर्यथार्णवः सर्पति चातिवेलः ॥ ३७ ॥

शेषः सुधन्वा गिरिशश्च देवशतुर्मुखो यः स त्रिलोचनश्च ।

ते तारकाख्याभिगतागताजौ क्षेमं यथा वायुवशात् समुद्राः ॥ ३८ ॥

शेषो गिरीशः सपितामहेशश्चोत्कुभ्यमाणः स रथेऽस्वरस्यः ।

विभेद संधीषु बलाभिपन्नः कूजन् निनादांश्च करोति धोरान् ॥ ३९ ॥

एकं तु ऋग्वेदतुरंगमस्य पृष्ठे पदं न्यस्य वृषस्य चैकम् ।

तस्यौ भवः सोदतवाणचापः पुरस्य तत्सङ्गममीक्षमाणः ॥ ४० ॥

तदा भवपदन्यासाद्यस्य वृषभस्य च । पेतुः स्तनाश्च दन्ताश्च पीडिताभ्यां त्रिशूलिना ॥ ४१ ॥

ततःप्रभृति चाश्वानां स्तना दन्ता गवां तथा । गूढाः समभवंस्तेन चादृश्यत्वसुपागताः ॥ ४२ ॥

\* यह एक शब्द है। इसका वर्णन महाभारत १। ६९। २३ आदिमें आता है।

तारकाख्यस्तु भीमाक्षो रौद्ररक्तान्तरेक्षणीः । रुद्रान्तिके सुसंरुद्धो नन्दिना कुलनन्दिना ॥ ४३ ॥  
 परश्वधेन तीक्ष्णेन स नन्दी दानवेश्वरम् । तक्षयामास वै तक्षा चन्दनं गन्धदो यथा ॥ ४४ ॥  
 परश्वधहतः शूरः शौलादिः शरभो यथा । दुद्राव खड्डं निष्कृप्य तारकाख्यो गणेश्वरम् ॥ ४५ ॥  
 यज्ञोपचीतमार्गेण चिच्छेद च ननाद च ।  
 ततः सिंहरबो घोरः शङ्खशब्दश्च भैरवः । गणेश्वरैः कृतस्तत्र तारकाख्ये निष्पृष्टिते ॥ ४६ ॥

उस समय वे गणेश्वर और असुरश्रेष्ठ घोरोंसे निरन्तर रक्तकी धारा वहाते हुए, वारंवार गरजते हुए और भयंकर शब्द बोलते हुए युद्ध कर रहे थे । उस पुरमें स्वर्ण और स्फटिक मणिकी इंटोंसे बने हुए जो चित्र-चित्र मार्ग थे, वे दो ही घड़ीमें सूधिरयुक्त कीचड़िसे भर दिये गये । जो सुखपूर्वक चलनेयोग्य थे, वे कटे हुए मस्तकों, पादों और पैरोंसे व्याप्त हो जानेके कारण दुर्गम हो गये । तब तारकासुर क्रोधसे आँखें तरेरता हुआ वृक्ष और पूर्वत हाथमें लेकर युद्धस्थलमें आ पहुँचा । वह उस समय अद्भुत पराक्रमी शंकरद्वारा अवरुद्ध किये गये दक्षिण-द्वारकी रक्षा करना चाहता था । महान् पराक्रमी एवं अद्भुत सत्त्वशाली तारकासुर अपनी इन्द्रियोंके गर्वसे उन्मत्त होकर परकोटोपर चढ़े हुए भूतगणोंको काटकर वहाँ विचरण करने लगा । पुनः नगरसे बाहर निकलकर उसने घोर गर्जना की । पूर्वतकी-सी आभावाला दैत्येन्द्र तारक मतवाले हाथीकी तरह शीघ्र ही शंकरजीके रथको पकड़ लेना चाहता था, परंतु प्रमथोद्वारा इस प्रकार रोक दिया गया, जैसे बढ़ते हुए समुद्रको उसका तट रोक देता है । उस समय शेषनाग, ब्रह्मा तथा सुन्दर धनुष धारण करनेवाले और पूर्वतपर शशन करनेवाले त्रिनेत्रवारी भगवान् शंकर युद्धस्थलमें तारकासुरके आ जानेसे उसी प्रकार क्षुब्ध हो गये, जैसे बायुके बेसे सागर उद्भेदित हो उठते हैं । आकाशस्थित रथपर बैठे हुए बलसम्पन्न शेष नाग, शंकर और ब्रह्माने विशेष क्षुब्ध होकर पृथक्-पृथक् तारकासुरके शरीरकी संक्षियोंको

प्रमथारसितं श्रुत्वा चादिवस्वनमेव च । पार्वत्यस्यः सुमहापाश्वं विद्युन्मालिं मयोऽव्रद्धीत् ॥ ४७ ॥  
 वहुपदनवतां किमेष शब्दो नदतां श्रूयते भिन्नसागरभः ।

बद बद त्वं तदिमालिन् किमेतपण्णा यज्ञद्युर्यथा गजेन्द्राः ॥ ४८ ॥

इति मयवचनाहृशार्दितस्तं तडिमाली रविरिवांशुमाली ।

रणशिरसि समग्रतः सुराणां निजगदेदमर्न्दमोऽतिदुःखात् ॥ ४९ ॥

यमवरुणमहेऽद्रसद्वीर्यस्त्व यशसो निधिर्धीरः तारकाख्यः ।

सकलसमरशीर्षपर्वतेन्द्रो युद्ध्वा यस्तपति हि तारको गणेन्द्रैः ॥ ५० ॥

मृदितमुपनिशस्य तारकाख्यं रविर्दीपानलभीषणायताक्षम् ।

हृषितसकलनेत्रलोमसत्वाः प्रमथास्तोयमुचो तथा नदन्ति ॥ ५१ ॥

इति सुहृदो वचनं निशम्य तत्वं तडिमाले: स मयः सुवर्णमाली ।

रणशिरस्यसिताब्जनाचलाभो जगदे वाक्यमिदं नवेन्दुमालिम् ॥ ५२ ॥

विद्युन्मालिन्न नः कालः साधितुं ह्यवहेलया । करोमि विक्रमेणैतत् पुरं व्यसनवर्जितम् ॥ ५३ ॥

विद्युन्माली ततः कुद्धो मयश्च विपुरेश्वरः । गणान् जघ्नुस्तु द्राघिष्ठाः सहितास्तैर्भवासुरैः ॥ ५४ ॥

येन येन ततो विद्युन्माली याति मयश्च सः । तेन तेन पुरं शून्यं प्रमथोपहुंकृतम् ॥ ५५ ॥

अथ यमवरुणमृद्गङ्गयोर्यैः पणवडिपिदमज्ज्यास्वनप्रघोषैः ।

सकरतलपुटैश्च सिंहनादैर्भवमभिपूज्य तदा सुरावतस्युः ॥ ५६ ॥

सम्पूज्यमानोऽदितिजैसेहात्मभिः सहस्ररशिमप्रतिमौजसैर्विभुः ।

अभिष्टुतः सत्यरतैस्तपोधनैर्यथास्तशृङ्गाभिगतो दिवाकरः ॥ ५७ ॥

इति श्रीमात्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे तारकाख्यवधो नामाष्टांत्रिशदधिकज्ञततमोऽच्यायः ॥ १३८ ॥

तब प्रमथगणोंके सिंहनाद और उनके वाजोंके भीणण शब्दको सुनकर वगलमें ही स्थित मय दानवने महान् वलशाली विद्युन्मालीसे पूछा—‘विद्युन्मालिन् । वताओ तो सही, अनेकों मुखोंवाले प्रमथगणोंका सागरकी गर्जनाके समान यह भयंकर सिंहनाद क्यों सुनायी पड़ रहा है ? ये गणेश्वर क्यों गजराजसे गरजते हुए इतने उत्साहसे युद्ध कर रहे हैं ?’ इस प्रकार मयके वचनखण्डी अङ्गुशसे !, पीड़ित हुआ किरणमाली सूर्यकी तरह तेजस्वी शत्रुदमन विद्युन्माली, जो तुरंत ही देवताओंके युद्धके मुहानेसे लैटकर आया था, अत्यन्त दुःखके साथ मयसे इस प्रकार बोला—‘धैर्यशाली राजन् । जो यम, वरुण, महेन्द्र और रुद्रके समान पराक्रमी, आपको कीर्तिका निधिस्वरूप, समस्त युद्धोंके मुहानेपर पूर्वतराजकी भोति ढंडा रहनेवाला और युद्धभूमिमें शत्रुओंके लिये संतापदायक था, वह तारक गणेश्वरोद्धारा निहत हो गया । सूर्य एवं प्रज्वलित अग्निके समान भयंकर विशाल नेत्रोंवाले तारकको मारा गया सुनकर हर्षके कारण सभी प्रमथोंके शरीर पुलकित और नेत्र उत्फुल्ल हो गये हैं और वे बादलोंकी तरह गर्जना कर रहे हैं ।’

इस प्रकार श्रीमत्यमहापुराणके त्रिपुरदाहके प्रसङ्गमें तारकासुर-वध नामक एक सौ अड्डीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३८ ॥

## एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय

दानवराज मयका दानवोंको समझा-बुझाकर त्रिपुरकी रक्षामें नियुक्त करना तथा त्रिपुरकीमुदीका वर्णन  
सूत उचाच

तरकाल्ये हते युद्धे उत्सार्य प्रमथान् मयः । उचाच दानवान् भूयोभूयः स तु भयावृतान् ॥ १ ॥  
भोडसुरेन्द्राभुना सर्वे निवोधव्यं प्रभापितम् । यत् कर्तव्यं मया चैव युज्माभिश्च महावलैः ॥ २ ॥  
पुष्यं समेष्यते काले चन्द्रश्चन्द्रनिभाननाः । यदैकं त्रिपुरं सर्वं क्षणमेकं भविष्यति ॥ ३ ॥  
कुरुव्यं निर्भयाः काले पिशुनारंसितेन च । स कालः पुष्ययोगस्य पुरस्य च मया कृतः ॥ ४ ॥  
काले तस्मिन् पुरे यस्तु सम्भावयति संहतिम् । स एनं कारयेच्चर्वूर्णं बलिनैकेयुणा सुरः ॥ ५ ॥  
यो वा प्राणो वलं यच्च या च वो वैरिताऽसुराः । तत् कृत्वा हृदये चैव पालयव्यमिदं पुरम् ॥ ६ ॥  
महेश्वररथं हौकं सर्वप्राणेन भीषणम् । विमुखीकुरुवतात्यर्थं यथा नोत्सुजते शरम् ॥ ७ ॥  
तत् एवं कृतेऽसमाभिख्यपुरस्यापि रक्षणे । प्रतीक्षिष्यन्ति विवशाः पुष्ययोगं दिवौकसः ॥ ८ ॥  
निशस्य तन्मयस्यैकं दानवाण्यपुरालयाः । सुहुः सिंहरवं कृत्वा मयमूर्च्छयमोपमाः ॥ ९ ॥  
प्रयत्नेन वयं सर्वे कुर्मस्त्वं प्रभापितम् । तथा कुर्मो यथा रुद्रो न मोक्षयति पुरे शरम् ॥ १० ॥  
अद्य यास्यामः संग्रामे तद्गुद्रस्य जिघांसवः । कथयन्ति दितेः पुत्रा हृषा भिन्नतनूरुहाः ॥ ११ ॥  
कल्यं स्यास्यति वा खस्यं त्रिपुरं शाश्वतं ध्रुवम् । अदानवं वा भविता नारायणपदव्यम् ॥ १२ ॥  
वयं न धर्मं हास्यामो यस्मिन् योक्ष्यति नो भवान् । अद्विवतमद्वित्यं वा लोकं द्रष्ट्यन्ति मानवाः ॥ १३ ॥  
इति सम्बन्धं हृष्टस्ते पुरान्तर्विद्युधारयः । प्रदोषे मुदिता भूत्वा चेरुर्मन्मथचारताम् ॥ १४ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋणियो । इस प्रकार युद्धभूमिमें तरकासुरके मारे जानेपर दानवराज मय प्रमयोंको खदेड़कर भयभीत हुए दानवोंको सब तद्वसे सान्त्वना देते हुए बोला—‘अये असुरेन्द्रो । इस समय तुम सभी महावली दानवोंका जो कर्तव्य है, उसे मैं बतला रहा हूँ, सब लोग ध्यान देकर सुनो । चन्द्रवदन दानवो । जिस समय चन्द्रमा पुष्य नक्षत्रसे समन्वित होंगे, उस समय एक क्षणके लिये तीनों पुर एकमें मिल जायेंगे । यह चन्द्रमाका पुष्य नक्षत्रसे सम्बन्ध होनेपर त्रिपुरके समिलित होनेका काल मैंने ही निर्धारित कर रखा है, अतः उस समय तुमलोग निर्भय होकर नारदजीद्वारा बतलाये गये उपायोंका प्रयोग करो; क्योंकि उस समय जो कोई देवता त्रिपुरोंके समिलित होनेका पता लगा लेगा, वह एक ही बुद्ध वाणसे इस त्रिपुरको चूर्ण कर डालेगा । इसलिये असुरों।तुमलोगोंमें जितनी प्राणशक्ति है, जितना बल है और देवताओंके साथ जितना वैर-विद्वेष है, वह सब हृदयमें विचारकर इस त्रिपुरकी रक्षामें जुट जाओ । तुमलोग

एकमात्र महेश्वरके भीषण रथको पूरी शक्ति लगाकर ऐसा विमुख कर दो, जिससे वे वाण न छोड़ सकें । इस प्रकार हमलोगोंद्वारा त्रिपुरकी रक्षा सम्पन्न कर लेनेपर देवताओंको विवश होकर पुनः आनेवाले पुष्ययोगकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ।’ मयका ऐसा कथन सुनकर यमराजके समान भीषण त्रिपुरनिवासी दानव वारंवार सिंहनाद कर मयसे बोले—‘राजन् । हम सबलोग प्रयत्नपूर्वक आपके कथनका पालन करेंगे और ऐसा कर्म कर दिखायेंगे, जिससे रुद्र त्रिपुरपर वाण नहीं छोड़ सकेंगे । हमलोग आज ही उस रुद्रका वध करनेके लिये संग्रामभूमिमें जा रहे हैं । या तो हमारा त्रिपुर कल्पपर्यन्त निश्चलरूपसे सर्वदाके लिये आकाशमें स्थिर रहेगा अयत्रा नारायणके तीन पदकी तरह यह दानवोंसे खाली हो जायगा । आप हमलोगोंको जिस कार्यमें नियुक्त कर देंगे, हमलोग उस कर्तव्यका कदापि त्याग नहीं करेंगे । आज मानव जगत्को देखता अयत्रा हैत्यसे रहित ही देखेंगे ।’

पुलकित शरीरवाले दैत्य हर्षपूर्वक इस प्रकार कह रहे करके सायंकाल होनेपर प्रसन्न होकर सच्छन्दाचारमें थे। इस प्रकार वे देवशत्रु दानव त्रिपुरके भीतर मन्त्रणा प्रसक्त हो गये ॥ १-१४ ॥

मुहुर्मुक्तोदयो अन्त उदयायं महामणिः । तमांस्युत्सार्य भगवांश्चन्द्रो जट्मति सोऽम्बरम् ॥ १५ ॥

कुमुदालंकुते हंसो यथा सरसि विस्तुते । सिंहो यथा चोषविष्टो वैदूर्यशिखे महान् ॥ १६ ॥

विष्णोर्यथा च विस्तीर्णं हारश्चोरसि संस्थितः ।

तथावगादे नभसि चन्द्रोऽत्रिनयनोद्भवः । अजाते भ्राजयल्लोकान् सृजन् ज्योत्स्नारसं वलात् ॥ १७ ॥

शीतांशाबुद्धिते चन्द्रे ज्योत्स्नपूर्णे पुरोऽसुराः । प्रदोषे ललितं चकुर्गृहमात्मानमेव च ॥ १८ ॥

रथ्यासु राजमार्गेषु प्रासादेषु गृहेषु च । दीपाश्रम्पकपुष्पाभा नालपस्नेहप्रदीपिताः ॥ १९ ॥

तदा मठेषु ते दीपाः स्नेहपूर्णाः प्रदीपिताः ।

गृहाणि वसुमन्त्येषां सर्वरत्नमयानि च । ज्वलतोऽदीपयन् दीपांश्चन्द्रोदय इव ग्रहाः ॥ २० ॥

चन्द्रांशुभिर्भासमानमन्तर्दीपैः सुदीपितम् । उपद्रवैः कुलमिव पीयते त्रिपुरे तमः ॥ २१ ॥

तस्मिन् पुरे वै तरुणप्रदोषे चन्द्राद्वहसे तरुणप्रदोषे ।

रत्यर्थिनो वै दग्धुजा गृहेषु सहाङ्गनाभिः सुचिरं विरेषुः ॥ २२ ॥

विनोदितो ये तु वृषव्यजंस्य पञ्चेषवस्ते मकरध्वजेन ।

तत्रासुरेष्वासुरपुङ्कवेषु स्वाङ्गाङ्गनाः स्वेदयुता वभूतुः ॥ २३ ॥

कलेप्रलापेषु च दानवीनां वीणाप्रलापेषु च मूर्च्छितांस्तु ।

मत्प्रलापेषु च कोकिलानां सचापवाणी मदनो ममन्थ ॥ २४ ॥

तमांसि नैशानि द्रुतं निंहत्य ज्योत्स्नावितानेन जगद्वितत्य ।

वेषे रोहिणीं तां च प्रियां समेत्य चन्द्रः प्रभाभिः कुरुतेऽधिराज्यम् ॥ २५ ॥

स्थित्वैव कान्तस्य तु पादमूले काचिद् वरस्त्री स्वकपोलमूले ।

विशेषकं चास्तरं करोति तेनाननं स्वं समलंकरोति ॥ २६ ॥

दृष्ट्वाननं मण्डलर्पणस्यं महाग्रभा मे मुखजेति जप्त्वा ।

स्मृत्वा वराङ्गी रमणैरितानि तेनैव भावेन रत्नमवाप ॥ २७ ॥

रोमाञ्जितैर्गात्रवैर्युवस्थो रतानुरागादूरमणेन चान्याः ।

स्वयं द्रुतं यान्ति मदाभिभूताः क्षपा यथा चार्कदिनावसाने ॥ २८ ॥

घेषीयते चातिरसानुविद्धा विमार्गितान्या च प्रियं प्रसन्ना ।

काचित् प्रियस्यातिचिरात् प्रसन्ना आसीत् प्रलापेषु च सम्प्रसन्ना ॥ २९ ॥

गोशीर्षयुक्तैर्हरिचन्दनैश्च पङ्कड़िताक्षीरधराऽसुरीणाम् ।

मनोश्चरुपा रुचिरा वभूतुः पूर्णामृतस्येव सुवर्णकुम्भाः ॥ ३० ॥

उसी समय बारंबार मोतीके निकलनेका भ्रम पाता है, उसी तरह महर्षि अत्रिके नेत्रसे उत्पन्न हुए उत्पन्न करनेवाले एवं महामणिके समान भगवान् चन्द्रमा चन्द्रमा अथाह आकाशमें स्थित होकर अपनी चाँदनीसे उदयाचलके शिखपर दीख पड़े । वे अन्वकारका बलपूर्वक सारे लोकोंको सींचते एवं प्रकाशित करते विनाश करके आकाशमण्डलमें आगे बढ़ रहे थे । उस हुए सुरोभित हो रहे थे । इस प्रकार सायंकालमें समय जैसे कुमुदनीसे सुरोभित विशाल सरोवरमें हंस, शीतरसि चन्द्रमाके उदय होनेपर जब त्रिपुरमें चाँदनी वैदूर्यके शिखपर बैठा हुआ महान् सिंह और भगवान् फैल गयी, तब असुरगण अपने-अपने गृहोंको सजाने विष्णुके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर लटकता हुआ हार शोभा लगे । गलियों, सड़कों, महलों और गृहोंमें तेलसे भरे

हुए दीपक जला दिये गये, जो चम्पाके पुण्यकी भौति परिपूर्ण तो थे ही, उनमें अनेक प्रकारके रन भी जड़े हुए थे, सुशोभित हो रहे थे । उसी प्रकार देवालयमें भी तेलसे जिससे वे जलते हुए दीपकोंको चन्द्रोदय होनेपर परिपूर्ण दीपक जलाये गये । दानवोंके गृह धन-सम्पत्तिसे ग्रहोंकी तरह अधिक उद्दीप्त कर रहे थे ॥ १५-३० ॥

अथाधरोष्टा द्रुतदोपरक्ता ललन्ति दैत्या दयितामु रक्ताः ।  
तन्नीप्रलापाख्यिपुरेषु रक्ताः खीणां प्रलापेषु पुनर्विरक्ताः ॥ ३१ ॥

क्वचित् प्रवृत्तं मधुराभिगानं कामस्य वाणैः सुकृतं निवानम् ।  
आपानभूमीषु सुखग्रस्तेयं गेयं प्रवृत्तं त्वथ साधयन्ति ॥ ३२ ॥

गेयं प्रवृत्तं त्वथ शोधयन्ति केचित् प्रियां तत्र च साधयन्ति ।  
केचित् प्रियां सम्प्रति वोधयन्ति सम्बुद्ध्य सम्बुद्ध्य च रामयन्ति ॥ ३३ ॥

चृतप्रसूनप्रभवः सुगन्धः सूर्यं गते वै त्रिपुरे वस्त्रव ।  
समर्परो नूपुरमेखलानां शब्दश्च सम्वाधति कोकिलानाम् ॥ ३४ ॥

प्रियावगृदा दयितोपगृदा काचित् प्ररुदाङ्ग्रहापि नारी ।  
दुचाहवाणपाङ्गुरपल्लवानां नवामुसिका इव भूमिरासीत् ॥ ३५ ॥

शशाङ्कपादैस्तपशोभितेषु प्रासादवर्येषु वराङ्गनानाम् ।  
माधुर्यभूताभरणामहान्तः स्वना चमूर्दमनेषु तुल्याः ॥ ३६ ॥

पानेन खिन्ना दयितातिवेलं कपोलमाघ्रासि च किं ममेदम् ।  
आरोह मे श्रोणिमिमां विशालां पीनोन्नतां काज्जनमेखलारथाम् ॥ ३७ ॥

रथ्यासु चन्द्रोदयमासितासु सुरेन्द्रमांगेषु च विस्तृतेषु ।  
दैत्याङ्गना यूथगता विभान्ति तारा यथा चन्द्रमसो द्विवान्ते ॥ ३८ ॥

अद्वाद्वहासेषु च चामरेषु प्रेहासु चान्या मद्लोलभावात् ।  
संदोलयन्ते कलसम्प्रहासाः प्रोवाच काञ्चीगुणसूक्ष्मनादा ॥ ३९ ॥

अम्लानमालान्वितसुन्दरीणां पर्याय एपोऽस्ति च हपितानाम् ।  
शूद्रयन्ति वाचः कलधौतकल्पा वापीषु चार्ये कलहंसशब्दाः ॥ ४० ॥

काञ्चीकलापश्च सहाङ्गरागः प्रेहासु तद्रागकृताश्च भावाः ।  
छिन्दन्ति तासामसुराङ्गनानां प्रियालयान् मन्मथमार्गणानाम् ॥ ४१ ॥

चित्रस्वरश्चोद्धृतकेशपाशः संदोल्यमानः शुशुभेऽसुरीणाम् ।  
सुचाहवेशाभरणैस्तपेतस्तारागणैर्ज्योतिरिवास चन्द्रः ॥ ४२ ॥

सन्दोलनाङ्गुच्छृचसितैश्चिन्नसूचैः काञ्चीभ्रष्टर्मणिभिर्विप्रकीर्णः ।  
दोलाभूमिस्तैर्विचित्रा विभाति चन्द्रस्य पाश्वैर्पगतैर्विचित्रा ॥ ४३ ॥

सर्वनिद्रिके सोपवने प्रदोषे रुतेषु वृन्देषु च कोकिलानाम् ।  
शरज्ययं प्राप्य पुरेऽसुराणां प्रक्षीणवाणो मदनश्चचार ॥ ४४ ॥

वे भवन वाहसे तो चन्द्रमाकी किरणोंसे प्रकाशित जाता है । रात्रिके समय जब चन्द्रमाकी उज्ज्वल छटा थे और भीतर जलते हुए दीपकोंसे उद्दीप हो रहे थे, पूरे त्रिपुरमें फैल गयी, तब दानवगण रात वितानेके लिये जिससे वे त्रिपुरके अन्वकारको उसी प्रकार पीकर नष्ट अपनी पल्नियोंके साथ अपने-अपने गृहोंमें चले गये । कर रहे थे, जैसे उपद्वयोंके प्रकोपसे कुल नष्ट हो इधर रात बीती और कोयलें कूजने लगीं ॥ ३१-४४ ॥

इति तत्र पुरेऽमरद्विषयाणां सपदि हि पश्चिमकौमुदी तदासीत् ।

रणशिरसि पराभविष्यतां वै भवेतुरगैः कृतसंक्षया अरीणाम् ॥ ४५ ॥

चन्द्रोऽथ कुन्दुसुभाकरहारवर्णो ज्योत्स्नावितानरहितोऽभ्रसमानवर्णः ।

विच्छायतां हि समुपेत्य न भाति तद्द्व भाग्यक्षये धनपतिश्च नरो विवर्णः ॥ ४६ ॥

चन्द्रप्रभामरुणसारथिनाभिमूर्य संतसकाङ्गवनरथाङ्गसमानविभवः ।

स्थित्वोदयाग्रमुकुटे वहुरेव सूर्यो भात्यम्बरे तिमिरतोयवहां तरिष्यन् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्ये भहीपुराणे त्रिपुरकौमुदीनामैकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

कुछ देर बाद त्रिपुरमें युद्धके मुहानेपर शंकरजीके थीड्डीद्वारा पराजित किये गये शत्रुओंकी क्षीण कीर्तिकी तरह उन देवशत्रुओंके नगरमें एकाएक चतुर्थ प्रहरकी क्षीण चाँदी दीख पड़ने लगी । उस समय कुन्दके पुष्टसमूहोंसे निर्मित हारके समान उज्ज्वल वर्णवाले चन्द्रमा किरण-जालके क्षीण हो जानेके कारण निर्जल बादलकी तरह दीखने लगे । चाँदीके नष्ट हो जानेपर चन्द्रमाकी शोभा

इस प्रकार श्रीमत्यमहापुराणमें त्रिपुरकौमुदी नामके एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३९ ॥

### एक सौ चालीसवाँ अध्याय

देवताओं और दानवोंका भीषण संग्राम, नन्दीश्वरद्वारा विद्युन्मालीका वध, मयका पलायन

तथा शंकरजीकी त्रिपुरपर विजय

सूत उचाच

चादिते तु सहस्रांशौ मेरै भासाकरे रखो । नद्देव बलं कृत्स्नं युगान्त इव सागराः ॥ १ ॥

सहस्रनयनो देवस्ततः शकः पुरंदरः । सवित्तदः सवरुणस्त्रिपुरं प्रययौ हरः ॥ २ ॥

ते नानाविधिरुपश्च ग्रमथातिप्रमाणितः । यशुः सिहरवैर्यैर्वादित्रनिनदैरपि ॥ ३ ॥

ततो चादितवैदित्रैश्चातपत्रैर्महादुमैः । बभूव तद्वलं दिव्यं बनं प्रचलितं यथा ॥ ४ ॥

तदापतन्तं सम्प्रेक्ष्य रौद्रं खद्वलं महत् । संक्षेभो दानवेन्द्राणां समुद्रप्रतिमो वभौ ॥ ५ ॥

ते चासीन् पद्मशान् शकीः शूलदण्डपरश्वधान् । शरासननि वज्राणि गुरुणि मुसलानि च ॥ ६ ॥

प्रगृह्य कोपरकाक्षाः सपक्षा इव पर्वताः । निजध्नुः पर्वतञ्जाय घना इव तपात्यये ॥ ७ ॥

सूतजी कहत है—ऋषियों । प्रकाश विखेनेवाले वह देवसेना ऐसी लग रही थी, मानो चलता-फिरता

सहस्रशुमाली सूर्यके मेरुगिरिपर उद्दित होते ही सारी- बन हो । तत्पश्चात् शंकरजीकी उस विशाल भयंकर

को-सारी देव-सेना प्रलयकालीन सागरकी तरह उच्च सेनाको आक्रमण करते देखकर दानवेन्द्रोंका समूह

खरसे गर्जना करने लगी । तब भगवान् शंकर सहस्र- सागरकी तरह संक्षुब्ध हो उठा । फिर तो पंखधारी

पर्वतोंकी भाति विशालकाय दानवोंके नेत्र कोधसे लाल हो गये । वे खड़, पद्मिश्र ( पद्मे ), शक्ति, शूल, दण्ड,

कुठार, धनुष, वज्र तथा बड़े-बड़े मूसलोंको लेकर एक

और बाजा बजाते हुए चले । उस समय वज्रते हुए साथ ही इन्द्रपर इस प्रकार प्रहर करने लगे, जैसे ग्रीष्म

बाजे, छत्रों और विशाल वृक्षोंसे युक्त होनेके कारण । ऋतुके बीत जानेपर बादल जलकी वृष्टि करते हैं ॥ १-७ ॥

सविद्युन्मालिनस्ते वै समया दितिनन्दनाः । मोदमानाः समासेदुर्देवदेवैः सुरारत्यः ॥ ८ ॥  
 मर्तव्यहृतबुद्धीनां जये चानिश्चितात्मनाम् । अवलानां चमूर्धासीदवलावयवा इव ॥ ९ ॥  
 विगर्जन्त इवाम्भोदा अभोदसद्वशत्विषः । प्रयुध्य युज्जुकुशलाः परस्परकृताग्रसः ॥ १० ॥  
 धूमायन्तो ज्वलद्विश्च आयुधैश्वन्द्रवर्चसैः । कोपाद् वा युज्जुलुव्याश्च कुष्टयन्ते परस्परम् ॥ ११ ॥  
 वज्राहताः पतन्त्यन्ये वाणैरन्ये विदारिताः । अन्ये विदारिताद्वचक्रैः पतन्ति लुद्धेर्जले ॥ १२ ॥  
 छिन्नस्त्रगदामहाराश्च प्रसृष्टाम्बरभूपणाः । तिमिनकगणे चैव पतन्ति प्रमथाः सुराः ॥ १३ ॥  
 गदानां सुसलानां च तोमरणां परश्वधाम् । वज्रशूलर्जिष्ठपातानां पट्टिशानां च सर्वतः ॥ १४ ॥

गिरिश्वङ्गोपलानां च प्रेरितानां प्रमन्युभिः ।

सजवानां दानवानां सधूमानां रवित्विपाम् । आयुधानां महानाधाः सोगरौघे पतल्यपि ॥ १५ ॥  
 प्रवृद्धवेगैस्तैस्तत्र सुरासुरकरोरितैः । आयुधैस्त्वत्तनक्षत्रः क्रियते संक्षयो महान् ॥ १६ ॥  
 क्षुद्राणां गजयोर्युद्धे यथा भवति सद्ध्ययः । देवासुरगणैस्तद्वत् तिमिनकक्षयोऽभवत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार मयसहित देवशत्रु दैत्याण विद्युन्मालीके साथ होकर प्रसन्नतापूर्वक देवेशरोंसे टक्कर लेने लगे । उनके मनमें विजयकी आशा तो थी ही नहीं, अतः वे मरनेपर उतार हो गये थे । उन बलहीनोंकी सेना खियोंके अवयवोंकी तरह दुर्बल थी । मेघकी-सी कान्तिवाले युद्धलोभी सैनिक प्रज्वलित अग्नि एवं चन्द्रमाके समान तेजस्वी अखोद्वारा क्रोधपूर्वक परस्पर एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए लड़ रहे थे और मेघके समान गर्ज रहे थे । युद्धलोभी सैनिक प्रज्वलित अग्नि एवं चन्द्रमाके समान —कूट रहे थे । कुछ लोग वज्रसे धायल होकर, कुछ लोग वाणोंसे विदीर्ण होकर और कुछ लोग चक्रोंसे छिन्न-भिन्न होकर समुद्रके जलमें गिर रहे थे । ( दैत्योंकी मार-पीट —कूट रहे थे । कुछ लोग वज्रसे धायल होकर, कुछ लोग वाणोंसे विदीर्ण होकर और कुछ लोग चक्रोंसे छिन्न-भिन्न होकर समुद्रके जलमें गिर रहे थे । ) जिनकी मालाओंके सूत्र और हार ढूट गये थे

विद्युन्माली च वेगेन विद्युन्माली इवाम्बुदः । विद्युन्मालं धनोन्नादो नन्दीश्वरमभिद्रुतः ॥ १८ ॥  
 स तं तमोऽरिवदनं प्रणदन् वदतां वरः । उवाच युधि शैलादिं दानवोऽम्बुधिनिःस्वनः ॥ १९ ॥

युद्धकाङ्गी तु बलवान् विद्युन्माल्यहमागतः ।

यदि त्विदानीं भै जीवन्मुच्यसे नन्दिकेश्वर । न विद्युन्मालिहननं वचोभिर्युधि दानवम् ॥ २० ॥  
 तमेवंवादिनं दैत्यं नन्दीशस्तपानं वरः । उवाच प्रहरंस्तत्र वाष्पयालंकारकोविदः ॥ २१ ॥  
 दानवाधम कामानां नैपोऽवसर इन्युत । शक्तो हन्तुं किमात्मानं जातिदोपाद् विवृंहसि ॥ २२ ॥  
 यदि तावन्मया पूर्वं हतोऽसि पश्यत्रद् यथा । इदानीं वा कथं नाम न हिंस्ये क्रतुदूषणम् ॥ २३ ॥  
 सागरं तरते दोभ्यां पातवेद् यो दिवाकरम् । सोऽपि मां शक्तुयान्तैव चक्षुभ्यां समवीक्षितुम् ॥ २४ ॥  
 इत्येवंवादिनं तत्र नन्दिनं तन्निमो वले । विभेदैकेषुणा दैत्यः करेणार्क इवाम्बुदम् ॥ २५ ॥  
 वक्षसः स शरस्तस्य पपौ रुधिरमुत्तमम् । सूर्यस्त्वात्मप्रभावेण नद्यर्णवजलं यथा ॥ २६ ॥  
 स तेन सुप्रहारेण प्रथमं च तिरोहितः । हस्तेन वृक्षमुत्पाद्य चिक्षेप गजराडिव ॥ २७ ॥

वायुनुनः स च तरः शीर्णपुष्पो महारवः । विद्युन्मालिशरैश्चित्तनः पपात पतगेशवत् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् विद्युत्समूहोंसे युक्त मेघकी तरह कान्तिमान् विद्युन्मालीने विजलीसे युक्त बादलकी तरह गरजते हुए नन्दीश्वरपर वेगपूर्वक धावा किया । उस समय वक्ताओंमें श्रेष्ठ दानव विद्युन्माली बादलकी तरह गरजता हुआ युद्धस्थलमें सूर्यके समान तेजस्वी मुखवालेनन्दीश्वरसे बोला—‘नन्दिकेश्वर ! मैं बलवान् विद्युन्माली हूँ और युद्ध करनेकी इच्छासे तुम्हारे सम्मुख खड़ा हूँ । अब तुम्हारा मेरे हाथोंसे जीवित बच पाना असम्भव है । युद्धस्थलमें बचनोद्धारा दानव विद्युन्मालीका हनन नहीं किया जा सकता ।’ तब वाक्यके अलंकारोंके ज्ञाता एवं श्रेष्ठ तेजस्वी नन्दीश्वरने ऐसा कहनेवाले दैत्य विद्युन्मालीपर प्रहार करते हुए कहा—‘दानवाधम ! तुमलोग इस समय कामासक्त ही हो, जिसका यह अवसर नहीं है । तुम मुझे मारनेमें समर्थ हो तो उसे कर दिखाओ, किंतु जाति-दोषके कारण तुम अपने प्रति ऐसी डींग क्यों मार रहे हो । यदि इससे भी पहले मैंने तुम्हें पशुकी

तरह बहुत मारा है तो इस समय तुझ यज्ञविवंसीका हनन कैसे नहीं कर सकेंगा ? ( तुम समझ लो ) जो हाथोंसे सागरको तैरनेकी तथा सूर्यको आकाशसे गिरा देनेकी शक्ति रखता हो, वह भी मेरी ओर आँख उठाकर नहीं देख सकता ।’ तब नन्दीश्वरके समान ही बलशाली विद्युन्मालीने इस प्रकार कहते हुए नन्दीश्वरको एक वाणसे वैसे ही बींध दिया, जैसे सूर्य अपनी किरणसे बादलका भेदन करते हैं । वह वाण नन्दीश्वरके वक्षःस्थलपर जा लगा और उनका शुद्ध रक्त इस प्रकार पीने लगा जैसे सूर्य अपने प्रभावसे नदी और समुद्रके जलको पीते हैं । उस प्रथम प्रहारसे अत्यन्त कुद्र हुए नन्दीश्वरने अपने हाथसे एक वृक्ष उखाड़कर गजराजकी भौति विद्युन्मालीके ऊपर फेंका । वायुसे प्रेरित हुआ वह वृक्ष धोर शब्द करता और पुष्पोंको विखेरता हुआ आगे बढ़ा, किंतु विद्युन्मालीके वाणोंसे छिन्न-मिन्न होकर एक बड़े पश्ची-की तरह भूतलपर बिखर गया ॥ १८-२८ ॥

वृक्षमालोक्य तं छिन्नं दानवेन वरेपुभिः । रोषमाहारयत् तीव्रं नन्दीश्वरः सुविग्रहः ॥ २९ ॥

सोदम्य करमारावे रविशक्करप्रभम् । दुदाम हन्तुं स क्रूरं महिं गजराडिव ॥ ३० ॥

तमापतन्तं वेगेन वेगवान् प्रसभं बलात् । विद्युन्माली शरशतैः पूर्यामास नन्दिनम् ॥ ३१ ॥

शरकण्टकिताङ्गो वै शैलादिः सोऽभवत् पुनः । अरेगृह्य रथं तस्य महतः प्रययौ जवात् ॥ ३२ ॥

विलम्बिताश्वो विशिरो भ्रमितश्च रणे रथः । पपात मुनिशापेन सादित्योऽर्करथो यथा ॥ ३३ ॥

अन्तरास्त्रिंगतश्चैव मायथा स दितेः सुतः । आजघान तदा शक्त्या शैलादिं समवस्थितम् ॥ ३४ ॥

तामेव तु विनिष्कम्य शर्क्ति शोणिंतभूषिताम् । विद्युन्मालिनमुद्दिश्य विक्षेप प्रमथाग्रणीः ॥ ३५ ॥

तथा भिन्नतुञ्चाणो विभिन्नहृदयस्त्वपि । विद्युन्माल्यपतद् भूमौ वज्राहत इवाचलः ॥ ३६ ॥

विद्युन्मालीद्वारा श्रेष्ठ वाणोंके प्रहारसे उस वृक्षको दिया । उस समय नन्दीश्वरका शरीर बाणस्थूपी कॉटोंसे भरा हुआ दिखायी पड़ने लगा; तब उन्होंने अपने शत्रु विद्युन्मालीके रथको पकड़कर बड़े वेगसे दूर फेंक दिया । उस समय उस रथके धोड़े उसमें लटके हुए थे और उसका अग्रभाग टूट गया था तथा वह चक्कर काटता हुआ रणभूमिमें उसी प्रकार गिर पड़ा, जैसे मुनिके शापसे सूर्यसहित सूर्यका रथ गिर पड़ा था । तब दिति-पुत्र विद्युन्माली मायाके बलसे अपनेको सुरक्षित रखकर

रथके भीतरसे निकल पड़ा और उसने सामने खड़े हुए तो उस शक्ति विद्युन्मालीके कवचको फाड़कर नन्दीश्वरपर शक्ति प्रहार किया। प्रमथगणोंके नायक उसके हृदयको भी विदीर्ण कर दिया, जिससे वह नन्दीश्वरने रक्तसे लथपथ हुई उस शक्तिको हाथमें बज्रसे मारे गये पर्वतकी तरह धराशायी हो गया लेकर विद्युन्मालीको लक्ष्य करके फेंक दिया। फिर ॥ २९-३६ ॥

विद्युन्मालिनि निहते सिद्धचारणकिनराः । साधु साध्विति चोक्त्वा ते पूजयन्त उमापतिम् ॥ ३७ ॥  
नन्दिना सादिते दैत्ये विद्युन्मालौ हते मयः । ददाह प्रमथानीकं चनमस्तिरिद्वोद्धतः ॥ ३८ ॥  
शूलनिर्दरितोरस्का गदाचूर्णितमस्तकाः । इपुभिर्गाढविद्धाश्च पतन्ति प्रमथार्णवे ॥ ३९ ॥

अथ बज्रधरो यमोऽर्थदः स च नन्दी स च पण्मुखो गुहः । विविधुः शश्वरवैर्हतारथः ॥ ४० ॥

मयमसुरवीरसम्प्रवृत्तं विविधुः शश्वरवैर्हतारथः ॥ ४० ॥  
नागं तु नागाधिपतेः शताक्षं मयो विदायेषु वरेण तर्णम् ।

यमं च वित्ताधिपतिं च विद्युत्वा ररास मत्ताम्बुद्वत् तदानीम् ॥ ४१ ॥

ततः शरैः प्रमथगणैश्च दानवा दठाहताश्चोत्तमवेगविक्रमाः । भृशानुविद्धाविपुरं प्रवेशिता यथासुराश्चकथरेण संयुगे ॥ ४२ ॥

ततस्तु शङ्खानकमेरिमर्दलाः सर्सिहनादा दनुपुत्रभद्रदाः । कपर्दिसैन्ये प्रवसुः समंततो निपात्यमाना युधि वज्रसंनिभाः ॥ ४३ ॥

अथ दैत्यपुराभावे पुष्पयोगो वभूव ह । वभूव चापि संयुक्तं तद्योगेन पुरव्यम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार विद्युन्मालीके मारे जानेपर सिद्ध, चारण गजासूर और नेत्रोंवाले इन्द्रको तथा ऐरावत नागको विदीर्ण और किन्नरोंके समूह 'ठीक है, ठीक है' ऐसा कहते कर यमराज और कुवेको भी वीर दिया। फिर वह घुमड़ते हुए वादलकी तरह गर्जना करने लगा। इधर प्रमथगणोंद्वारा छोड़े गये वाणोंसे उत्तम वेग एवं पराक्रमशाली दानव दुरी तरह धायल हो रहे थे। वे अत्यन्त धायल होनेके कारण भागकर त्रिपुरमें उसी प्रकार घुस रहे थे, जैसे युद्धस्थलमें चक्रपाणि त्रिष्णुके प्रहारसे असुर। तत्पथात् रणभूमिमें शंकरजीकी सेनामें चारों ओर शङ्ख, ढोल, भेरी और मृदंजल वज उठे। वीरोंका सिंहनाद वज्रकी गड़गड़ाहटकी भाँति गूँज उठा, जो दानवोंकी पराजयसो सूचित कर रहा था। इसी समय उस दैत्यपुरका विनाशक पुष्पयोग सभी असुर-वीरोंसे घिरे हुए मयको श्रेष्ठ अशोद्वारा वीरघने सभी असुर-वीरोंसे घिरे हुए मयको श्रेष्ठ अशोद्वारा वीरघने आ गया। उस योगके प्रभावसे तीनों पुर संयुक्त लगे। उस समय मयने शीत्र ही एक श्रेष्ठ वाणसे हो गये ॥ ३७-४४ ॥

ततो वाणं त्रिधा देवस्थिदैवतमयं हरः । सुमोच्च त्रिपुरे तर्णं त्रिनेत्रस्थिपथाधिपः ॥ ४५ ॥  
तेन सुक्लेन वाणेन वाणुपुष्पसमप्रभम् । आकाशं स्वर्णसंकाशं कृतं सूर्येण रजितम् ॥ ४६ ॥  
सुकृत्वा त्रिदैवतमयं त्रिपुरे त्रिदशः शरम् । धिर्घिर्डवामेति चक्रन्द कष्टं कष्टमिति बृवन् ॥ ४७ ॥  
वैधुर्यं दैवतं दृष्ट्वा शैलादिर्गजवद्गतिः । किमिदं त्विति पप्रच्छ शूलपाणिं महेश्वरम् ॥ ४८ ॥  
ततः शशाङ्कतिलकः कपर्दीं परमार्थवत् । उवाच नन्दिनं भक्तः स मयोऽद्य विनडक्ष्यति ॥ ४९ ॥

अथ नन्दीश्वरस्तर्णं मनोमारुतवद् बली । शरे त्रिपुरमायाति त्रिपुरं प्रविवेश सः ॥ ५० ॥  
सं मयं प्रेक्ष्य गणपः प्राह काञ्चनसंनिभः । विनाशत्रिपुरस्यास्य प्राप्तो मय सुदाहणः ॥ ५१ ॥  
अनेनैव गृहण त्वमपकाम ब्रवीम्यहम् ।

श्रुत्वा तत्त्वान्दिवचनं दृढभक्तो महेश्वरे । तेनैव गृहमुख्येन त्रिपुरादपसर्पितः ॥ ५२ ॥  
सोऽपीषुः एवपुटवद् दग्धवा तत्त्वगत्रयम् । त्रिधा इव हुताशश्च सोमो नारायणस्तथा ॥ ५३ ॥  
शरतेजपरीतानि पुराणि द्विजपुंगवाः । दुष्पुत्रदोषाद् दद्यन्ते कुलान्युर्ध्वं यथा तथा ॥ ५४ ॥

तब त्रैलोक्याधिपति त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरने शर्वं ही अपने त्रिदेवमय बाणको तीन भागोंमें विभक्त कर त्रिपुरपर छोड़ दिया । उसे छूटे हुए बाणने ( तीनों देवताओंके अंशसे तीन प्रकारकी प्रभासे युक्त होकर ) बाण-वृक्षके पुष्पके समान नीले आकाशको स्वर्ण-सदृश प्रभाशाली और सूर्यकी किरणोंसे उद्दीप कर दिया । देवेश्वर शम्भु त्रिपुरपर त्रिदेवमय बाण छोड़कर—‘मुझे धिक्कार है, धिक्कार है, हाय । वडे कष्टकी बात हो गयी’ यो कहते हुए चिल्ला उठे । इस प्रकार शंकरजीको व्याकुल देखकर गजराजकी चालसे चलनवाले नन्दीश्वर शूलपाणि महेश्वरके निकट पहुँचे और पूछने लगे—‘कहिये, क्या बात है?’ तब चन्द्रशेखर जटोजटधारी भगवान् शंकरने अत्यन्त हुँखी होकर नन्दीश्वरसे कहा—‘आज मेरा वह भक्त मय भी नष्ट हो जायगा ।’ यह सुनकर मन और वायुके समान

वैगशाली महाबली नन्दीश्वर तुरंत उस बाणके त्रिपुरमें पहुँचनेके पूर्व ही वहाँ जा पहुँचे । वहाँ स्वर्ण-सरीखे कान्तिमान् गणेश्वर नन्दीने मयके निकट जाकर कहा—‘मय! इस त्रिपुरका अत्यन्त भयंकर विनाश आ पहुँचा है, इसलिये मैं तुम्हें बतला रहा हूँ । तुम अपने इस गृहके साथ इससे बाहर निकल जाओ ।’ तब महेश्वरके प्रति दृढ़ भक्ति रखनेवाला मय नन्दीश्वरके उस वचनको सुनकर अपने उस मुख्य गृहके साथ त्रिपुरसे निकलकर भाग गया । तदनन्तर वह बाण अग्नि, सौम और नारायणके रूपसे तीन भागोंमें विभक्त होकर उन तीनों नगरोंको पत्तेके दोनेकी तरह जलाकर भस्म कर दिया । द्विजवरो! वे तीनों पुर बाणके तेजसे उसी प्रकार जलकर नष्ट हो रहे थे, जैसे कुपुत्रके दोप्रसे आगेकी पीड़ियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ ४५—४४ ॥

मेहकैलासकल्पानि मन्दराश्रनिभानि च । सकपाटगवाक्षाणि वलिभिः शोभितानि च ॥ ५५ ॥  
सप्रासादानि रम्याणि कूटागारोत्कटानि च । सजलानि समाख्यानि सावलोकनकानि च ॥ ५६ ॥  
वद्यवजपताकानि स्वर्णरौप्यमयानि च ।

गृहाणि तर्सिष्ठिपुरे दानवानामुपद्रवे । दद्यन्ते दहनाभानि दहनेन सहस्रशः ॥ ५७ ॥  
प्रासादाग्रेषु रम्येषु वनेषु पवनेषु च । वातायनगताद्वाकाशास्य तलेषु च ॥ ५८ ॥  
रमणैरुपगृहाण्य रमन्त्यो रमणैः सह । दद्यन्ते दानवेन्द्राणामग्निना ह्यपि ताः स्त्रियः ॥ ५९ ॥  
काचित्प्रियं परित्यज्य अशक्ता गन्तुमन्यतः । पुरः प्रियस्य पञ्चत्वं गताग्निवदने क्षयम् ॥ ६० ॥  
उचाच शतपत्राक्षी साक्षात्काव कृताङ्गलिः ।  
हत्यवाहन भार्याहं परस्य परतापन । धर्मसाक्षी त्रिलोकस्य न मां स्पष्टुमिहार्हसि ॥ ६१ ॥  
शायितं च मया देव शिवया च शिवप्रभ । शरेण प्रेहि मुक्तवेदं गृहं च दयितं हि मे ॥ ६२ ॥  
एका पुत्रमुपादाय चालकं दानवाङ्गना । हुताशनसमीपस्या इत्युच्च दुताशनम् ॥ ६३ ॥  
चालोऽयं दुखलव्यवच मया पावकं पुत्रकः । नार्हस्येनमुपादातुं दयितं पण्मुखप्रिय ॥ ६४ ॥  
काश्चित् प्रियान् परित्यज्य पीडिता दानवाङ्गनाः । निपत्न्यर्णवजले शिङ्गमानविभूयणाः ॥ ६५ ॥  
तात पुत्रोति भावेति मातुलेति च विद्धलम् । चक्रन्दुखिपुरे नार्यः पावकच्चालवेपिताः ॥ ६६ ॥

यथा दहति शैलगिनः साम्युजं जलजाकरम् । तथा खीवकव्रपद्मानि चादहत् पुरेऽनलः ॥ ६७ ॥

उस त्रिपुरमें ऐसे गृह बने थे, जो सुमेरु, कैलास और मन्दराचलके अग्रभागकी तरह दीख रहे थे । जिनमें बड़े-बड़े किंवाड़ और झारोखें लगे हुए थे तथा छज्जाओंकी विचित्र छटा दीख रही थी । जो सुन्दर महलों, उत्कृष्ट कूटागारों ( ऊपरी छतके कमरों ), जल रखनेकी वेदिकाओं और खिड़कियोंसे सुशोभित थे । जिनके ऊपर सुवर्ण एवं चाँदीके बने हुए ढंडोंमें बँधे हुए धज और पताकाएँ फहरा रही थीं । ये सभी हजारोंकी संख्यामें दानवोंके उस उपद्रवके समय अग्निद्वारा जलाये जा रहे थे, जो आगकी तरह धधक रहे थे । दानवेन्द्रोंकी खियाँ, जिनमें कुछ महलोंके रमणीय शिखरोंपर बैठी थीं, कुछ घनों और उपवनोंमें धूम रही थीं, कुछ झारोखोंमें बैठकर दृश्य देख रही थीं, कुछ मैदानमें धूम रही थीं—ये सभी अग्निद्वारा जलायी जा रही थीं । कोई अपने पतिको छोड़कर अन्यत्र जानेमें असमर्थ थी, अतः पतिके सम्मुख ही अग्निकी लपटोंमें आकर दग्ध हो गयी । कोई कमलनयनी नारी आँखोंमें आँसू भरे हुए हाथ जोड़कर कह रही थी—‘हव्यवाहन ! मैं दूसरेकी पल्नी हूँ । परतापन । आप त्रिलोकीके

धर्मके साक्षी हैं, अतः यहाँ मेरा स्पर्श करना आपके लिये उचित नहीं है ।’ ( कोई कह रही थी— ) ‘शिवके समान कान्तिमान् अग्निदेव । मुझ पतिव्रताने इस घरमें अपने पतिको सुला रखा है, अतः इसे छोड़कर आप दूसरी ओरसे चले जाइये; क्योंकि यह गृह मुझे परम प्रिय है ।’ एक दानवपत्नी अपने शिशु पुत्रको गोदमें लेकर अग्निके समीप गयी और अग्निसे कहने लगी—‘स्वामीकार्तिकके प्रेमी पावक ! मुझे यह शिशु पुत्र बड़े दुःखसे प्राप्त हुआ है, अतः इसे ले लेना आपके लिये उचित नहीं है । यह मुझे परम प्रिय है ।’ कुछ पीड़ित हुई दानव-पत्नियाँ अपने पतियोंको छोड़कर समुद्रके जलमें कूद रही थीं । उस समय उनके आभूषणोंसे शब्द हो रहा था । त्रिपुरमें आगकी लपटोंके भयसे काँपती हुई नारियाँ ‘हा तात !, हा पुत्र !, हा माता !, हा मामा !’ कहकर विह्लतापूर्वक करुण-क्रन्दन कर रही थीं । जैसे पर्वताग्नि ( दावाग्नि ) कमलोंसहित सरोवरको जला देती है, उसी प्रकार अग्निदेव त्रिपुरमें खियोंके मुखरूपी कमलोंको जला रहे थे ॥ ५५—६७ ॥

**त्रुषारराशिः कमलाकराणां यथा दहत्यस्तुजकानि शीते ।**

**तथैव सोऽग्निश्चिपुराङ्गनानां ददाह चक्रेष्टणपङ्कजानि ॥ ६८ ॥**

**शराग्निपातात् समभिद्रुतानां तत्राङ्गनानामतिकोमलानाम् ।**

**वभूव काञ्चीगुणनूपुराणमाकन्दितानां च र्वोऽति मिश्रः ॥ ६९ ॥**

**दग्धार्थचन्द्राणि सर्वेदिकानि विशीर्णहर्ष्याणि सतोरणानि ।**

**दग्धाणि दग्धाणि गृहाणि तत्र पतन्ति रक्षार्थमिवार्णवौद्ये ॥ ७० ॥**

**गृहैः पतञ्जिर्ज्वलनावलीदैरासीत् समुद्रे सलिलं प्रतसम् ।**

**कुपुत्रदोपैः प्रहतानुविद्धं यथा कुलं याति धनान्वितस्य ॥ ७१ ॥**

**गृहप्रतापैः वृथितिं समन्तात् तदार्णवे तोयमुदीर्णवेगम् ।**

**विनासयामास तिमीन् सनकांस्तिर्मिगिलांस्तत्वविद्यतांस्तथान्यान् ॥ ७२ ॥**

**सगोपुरो मन्दरपादकल्पः प्राकारवर्यश्चिपुरे च सोऽथ ।**

**तैरेव सार्धं भवनैः पपात शब्दं महान्तं जनयन् समुद्रे ॥ ७३ ॥**

**सहस्रश्चैर्भवनैर्यदासीत् सहस्रश्चः स इवाचलेशः ।**

**नामावशेषं त्रिपुरं प्रजाशे हुताशनाहारवलिप्रयुक्तम् ॥ ७४ ॥**

प्रदद्यमानेन पुरेण तेन जगत्सपातालदिं प्रतपम् ।

दुःखं महत्प्राप्य जलावमानं हित्वा महान् सौधवरो मयस्य ॥ ७५ ॥

तद् देवेशो वचः श्रुत्वा इन्द्रो वज्राधरस्तदा । शशाप तदृगृहं चापि मयस्यादितिनन्दनः ॥ ७६ ॥  
असेव्यमप्रतिष्ठं च भयेन च समावृतम् । भविष्यति मयगृहं नित्यमेव यथानलः ॥ ७७ ॥

यस्य यस्य तु देशस्य भविष्यति पराभवः ।

द्रक्ष्यन्ति त्रिपुरं खण्डं तत्रेदं नाशगा जनाः । तदेतदद्यापि गृहं मयस्यामयवर्जितम् ॥ ७८ ॥

जिस प्रकार शीतकालमें तुषाराशि कमलोंसे भरे हुए सरोवरोंके कमलोंको नष्ट कर देती है, उसी तरह अग्निदेव त्रिपुर-निवासिनी नारियोंके मुख और नेत्ररूप कमलोंको जला रहे थे । त्रिपुरमें बाणाग्निके गिरनेसे भयमीत होकर भागती हुई अत्यन्त कोमलाङ्गी सुन्दरियोंकी करवनीकी लड़ियों और पायजेबोंका शब्द आक्रमनके शब्दोंसे मिलकर अत्यन्त भयंकर लग रहा था । जिनमें अर्धचन्द्रसे सुशोभित वेदिकाएँ जल गयी थीं तथा तोरणसहित अड़लिकाएँ जलकर छिन्न-भिन्न हो गयी थीं । ऐसे गृह जलते-जलते समुद्रमें इस प्रकार गिर रहे थे, मानो वे रक्षाके लिये उसमें कूद रहे हों । अग्निकी लपटोंसे, झुलसे हुए गृहोंके समुद्रमें गिरनेसे उसका जल ऐसा संतप्त हो उठा था, जैसे सम्पत्तिशाली व्यक्तिका कुल कुपुत्रके दोपसे नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है । उस समय समुद्रमें चारों ओर गिरते हुए गृहोंकी उण्ठातासे खौलते हुए जलमें तूफान आ गया, जिससे मगरमच्छ, नाक, तिर्मिगिल तथा अन्यान्य जलजन्तु संतप्त होकर भयमीत हो उठे । उसी समय त्रिपुरमें

ऋषय ऊः

भगवन् स मयो येन गृहेण प्रपलायितः । तस्य नो गतिमाख्याहि मयस्य चमसोद्घव ॥ ७९ ॥

ऋषियोंने पूछा—चमससे उत्पन्न होनेवाले भाग गया था, उस मयकी आगे चलकर क्या गति ऐश्वर्यशाली सूतजी ! वह मय जिस गृहको साय लेकर हुई ? यह हमें बतलाइये ॥ ८० ॥

सूत उवाच

दद्यते दद्यते यत्र ध्रुवस्तत्र मयास्पदम् ।

देवद्विष्ट् तु मयश्चातः स तदा खिन्नमानसः । ततश्च युतोऽन्यलोकेऽस्मिल्याणार्थं स चकार सः ॥ ८१ ॥  
तत्रापि देवताः सन्ति आतोर्यामाः सुरोत्तमाः । तत्राशक्तं ततो गन्तुं तं चैकं पुरसुत्तमम् ॥ ८२ ॥

शिवः सद्गृहं प्रादान्मयायैव गृहार्थिने ।

विश्वराम सदस्त्राक्षः पूजयामास चेश्वरम् । पूज्यमानं च भूतेशं सर्वं तुम्दुवुरीश्वरम् ॥ ८३ ॥

सम्पूज्यमानं त्रिदशैः समीक्ष्य गणेशोशाधिपतिं तु सुख्यम् ।

हर्षद्विजलुर्जहसुवच देवा जग्मुर्नन्दुस्तु विपक्षस्ताः ॥ ८३ ॥

पितामहं चन्द्रं ततो महेशं प्रगृह्ण चापं प्रविसुज्य भूतान् ।

स्थाच्च सम्पत्य हरेपुदग्धं क्षिप्तं पुरं तन्मकरालये च ॥ ८४ ॥

य इमं रुद्रविजयं पठते विजयावहम् । विजयं तस्य कृत्येषु ददाति वृपभव्यजः ॥ ८५ ॥

पितॄणां वापि श्राद्धेषु य इमं श्रावयिष्यति । अनन्तं तस्य पुण्यं स्यात् सर्वेयद्वक्तुप्रदम् ॥ ८६ ॥

इदं स्वस्त्ययनं पुण्यमिदं पुंसवनं महत् । इदं श्रुत्वा पठित्वा च यान्ति रुद्रसलोकताम् ॥ ८७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहो नाम चत्वारिंशदधिकशततमोऽथायः ॥ १४० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! जहाँ ध्रुव दिखलायी पड़ते हैं, वहीं मयका भी स्थान दीख पड़ता था, किंतु कुछ समयके बाद देवशत्रु मयका मन खिन्न हो गया, तब वह अपनी रक्षाके निमित्त वहाँसे हटकर अन्य लोकमें चला गया । वहाँ भी आसोर्यम नामक श्रेष्ठ देवता निवास करते थे, परंतु अब मयमें वहाँसे अन्यत्र जानेकी शक्ति नहीं रह गयी थी । तब भक्तवत्सल शंकरजीने एक उत्तम पुर और गृहका निर्माण कर गृहार्थी मयको प्रदान कर दिया । यह देखकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र शान्त हो गये । तत्पश्चात् उन्होंने महेश्वरकी पूजा की । उस समय सभी देवताओंने पूजित होते हुए भूतपति शंकरकी स्तुति की । तदनन्तर देवताओं और गणेशरोद्वारा प्रवान् गणेशाधिपति महेश्वरकी पूजा होते देखकर देवगण हाथ उठाकर हर्षपूर्वक जयजयकार, देखकर देवगण हाथ उठाकर हर्षपूर्वक जयजयकार,

अद्भुत और सिंहनाद करने लगे । इसके बाद रथसे निकलकर उन्होंने व्रद्धा और शंकरजीकी बन्दना की । फिर हाथमें धनुप्रहणकर और भूतगणोंसे विदा होकर वे अपने-अपने स्थानके लिये प्रस्थित हुए; क्योंकि शंकरजीके बाणसे भस्म हुआ त्रिपुर महासागरमें निर्माण हो चुका था । जो मनुष्य विजय प्रदान करनेवाले इस रुद्रविजयका पाठ करता है, उसे भगवान् शंकर सभी कार्योंमें विजय प्रदान करते हैं । जो मनुष्य पितरोंके श्राद्धोंके अवसरपर इसे पढ़कर सुनाता है, उसे सम्पूर्ण यज्ञोंका फल प्रदान करनेवाले अनन्त पुण्यकी प्राप्ति होती है । यह रुद्रविजय महान् मङ्गलकारक, पुण्यप्रद और संतानप्रदायक है । इसे पढ़ और सुनकर लोग रुद्रलोकमें चले जाते हैं ॥ ८०-८७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरोपाख्यानमें त्रिपुरदाह नामक एक सौ चालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४० ॥

## एक सौ एकतालीसवाँ अध्याय

पुरुषवाका सूर्य-चन्द्रके साथ समागम और पितृतर्पण, पर्वसंधिका वर्णन  
तथा श्राद्धभोजी पितरोंका निरूपण

शृणु:

कथं गच्छत्यमावास्यां मासि मासि दिवं नृपः ।

ऐलः पुरुषवाः सूतं तर्पयेत् कथं पितृन् । एतदिच्छामहे श्रोतुं प्रभावं तस्य धीमतः ॥ १ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! इलानन्दन महाराज पुरुषवा प्रति मासकी अमावास्याको किस प्रकार स्वर्ग-लोकमें जाते हैं और वहाँ अपने पितरोंको कैसे तृप्ति करते हैं ? उन बुद्धिमान् नरेशके इस प्रभावको हमलोग सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

सूत उवाच

एतदेव तु पप्रच्छ मनुः स मधुसूदनम् । सूर्यपुत्राय चोवाच यथा तन्मे निवोधत ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! पूर्वकालमें महाराज समय भगवान् ने उन सूर्य-पुत्र मनुके प्रति जो कुछ कहा मनुने भगवान् मधुसूदनसे यही प्रश्न किया था । उस था, वही मैं वतला रहा हूँ, आपलोग ध्यान देकर सुनिये ॥

मत्स्य उवाच

तस्य चाहं प्रवक्ष्यामि प्रभावं विस्तरेण तु । ऐलस्य दिवि संयोगं सोमेन सह धीमता ॥ ३ ॥

सोमाच्चैवामृतप्राप्तिः पितृणां तर्पणं तथा । सौम्या वर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्तास्तथैव च ॥ ४ ॥

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च नक्षत्राणां समागतौ । अमावास्यां निवसत एकस्मिन्थ मण्डले ॥ ५ ॥

तदा स गच्छति द्रष्टुं दिवाकरनिशाकरौ । अमावास्याममावास्यां मातामहपितामहौ ॥ ६ ॥

अभिवाद्य तु तौ तत्र कालापेक्षः स तिष्ठति । प्रचस्कन्द ततः सोमर्चयित्वा परिश्रमात् ॥ ७ ॥

ऐलः पुरुरवा विद्वान् मासि श्राद्धचिकीर्षया । ततः स दिवि सोमं वै ह्यपतस्थे पितृनपि ॥ ८ ॥

द्विलवं कुहुमात्रं च तावुभौ तु निधाय सः । सिनीवालीप्रमाणाल्पकुहुमात्रब्रतोदये ॥ ९ ॥

कुहुमात्रं पितृदेशं शात्वा कुहुमुपासते । तमुपास्य ततः सोमं कलापेक्षी प्रतीक्षते ॥ १० ॥

स्वधामृतं तु सोमाद् वै वसंस्तेषां च तृप्तये ।

दशमिः पञ्चभिश्चैव स्वधामृतपरिस्त्रवैः । कृष्णपक्षभुजां प्रीतिर्द्वयते परमांशुमिः ॥ ११ ॥

सद्योऽभिभरता तेन सौम्येन मधुना च सः । निवापेष्वथ इत्तेषु पितृयेण विधिना तु वै ॥ १२ ॥

स्वधामृतेन सौम्येन तर्पयामास वै पितृन् । सौम्या वर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्तास्तथैव च ॥ १३ ॥

ऋतुरग्निः स्मृतो विप्रैर्ऋर्तुं संवत्सरं विदुः । जह्निरे ऋतुवस्तसाद्वतुभ्यो ह्यार्तवाऽभवन् ॥ १४ ॥

पितरोऽर्तवोऽर्थमासा विशेया ऋतुसूनवः ।

पितामहास्तु ऋतवो ह्यमावास्याब्दसूनवः । प्रपितामहाः स्मृता देवाः पञ्चाब्दा व्रह्मणः सुताः ॥ १५ ॥

मत्स्यभगवान् ने कहा—राजन् । मैं इला-पुत्र करके लौटता है । किसी महीनेमें श्राद्ध करनेकी इच्छासे इला-नन्दन विद्वान् पुरुरवा सर्गलोकमें चन्द्रमा और पितरोके निकट गया और दो लवमात्र कुहु अमावास्यामें उसने दोनोंको स्थापित किया; क्योंकि पितृत्रतमें जब सिनीवालीका प्रमाण थोड़ा तथा कुहु (अमावास्या) प्रशास्त मानी गयी है । अतः कुहुका समय प्राप्त हुआ जानकर वह पितरोंके उद्देश्यसे कुहुकी उपासना करता है । उसकी उपासना करनेके पश्चात् वह कालकी प्रतीक्षा करता हुआ चन्द्रमाकी भी प्रतीक्षा करता है । वहाँ रहते हुए उसे पितरोकी तृतीक्षे लिये चन्द्रमासे स्वधारूप अमृत प्राप्त होता है । चन्द्रमाकी पंद्रह किरणोसे स्वधामृतका क्षरण होता है । कृष्णपक्षमें श्राद्धभोजी पितरोका उन श्रेष्ठ किरणोसे बड़ा प्रेम रहता है तथा अन्य पितर उनसे द्वेष करते हैं । पुरुरवा अनृतके क्षरण होनेपर उससे परिश्रमपूर्वक पितरोकी पूजा

तुरंत अभिक्षरित हुए उस उत्तम मधुको पितृ-शाद्रकी विधिके अनुसार श्राद्धके समय पितरोंको प्रदान करता है। इस प्रकार वह उत्तम खधामृतसे सौम्य, वर्हिपदू, काव्य तथा अग्निष्वात्त पितरोंको तृप्त करता रहता है। महर्षियोंने ऋतुको अग्नि बतलाया है और ऋतुको संवत्सर भी कहते हैं। उस संवत्सरसे ऋतुकी उत्पत्ति होती

है और ऋतुओंसे उत्पन्न हुए पितर आर्तव कहलाते हैं। आर्तव और अर्धमास पितरोंको ऋतुका पुत्र तथा ऋतुखरूप पितामह और अमावास्याको संवत्सरका पुत्र जानना चाहिये। प्रपितामह और पञ्च रावत्सररूप देवगण ब्रह्माके पुत्र माने गये हैं ॥ ३-१५ ॥

सौम्या वर्हिष्ठदः काव्या अग्निष्वास्ता इति त्रिदा ।

गृहस्था ये तु यज्वानो इविर्यश्चार्तवाच्च ये । स्मृता वर्हिष्ठदस्ते वै पुराणे निश्चयं गताः ॥ १६ ॥ गृहस्थिनश्च यज्वानो अग्निष्वास्तार्तवाः स्मृताः । अष्टकापतयः काव्याः पञ्चाद्वांस्तु निवोधत ॥ १७ ॥ तेषु संवत्सरो द्यग्निः सूर्यस्तु परिवत्सरः । सोमस्तिवड्वत्सरस्यैव वायुश्चैवानुवत्सरः ॥ १८ ॥ रुद्रस्तु वत्सरस्तेषां पञ्चाद्वा ये युगात्मकाः । कालेनाधिष्ठितस्तेषु चन्द्रमाः च्छवते सुधाम् ॥ १९ ॥ एते स्मृता देवकृत्याः सोमपाश्चोष्पपाश्च ये । तास्तेन तर्पयामास यावदासीत् पुरुषाः ॥ २० ॥

यस्मात्प्रसूयते सोमो मासि मासि विशेषतः ।

ततः स्वधामृतं तद्वै पितृणां सोमपायिनाम् । एतन् तदमृतं सोममवाप मधु चैव हि ॥ २१ ॥ ततः पीतसुधं सोमं सूर्योऽसावेकरश्मिना । आप्यायते सुपुण्डेन सोमं तु सोमपायिनम् ॥ २२ ॥ निःशेषं वै कलाः पूर्वा युगपद्वयाप्यनपुरा । सुपुण्डाऽप्यायमानस्य भागं भागमहःक्रमात् ॥ २३ ॥ कलाः क्षीयन्ति कृष्णास्ताः शुक्ला ह्याप्याययन्ति च । एवं सा सूर्यचीर्येण चन्द्रस्याप्यायिता वनुः ॥ २४ ॥

पौर्णमास्यां स दृश्येत शुक्लः सरपूर्णमण्डलः ।

एवमाप्यायितः सोमः शुक्लपक्षेऽप्यहःक्रमात् । देवैः पीतसुधं सोमं पुरा पश्चात्पियेद् रविः ॥ २५ ॥ पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्करः । आप्याययत्सुपुण्डेन भागं भागमहःक्रमात् ॥ २६ ॥ सुपुण्डाप्यायमानस्य शुक्ला वर्धयन्ति दै कलाः । तस्माद्वसन्ति वै कृष्णाः शुक्ला ह्याप्याययन्ति च ॥ २७ ॥ एवमाप्यायते सोमः क्षीयते च पुनः पुनः । समृद्धिरेवं सोमस्य पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ॥ २८ ॥ इत्येष पितरमान सोमः स्मृतस्तद्वत्सुधात्मकः । कान्तः पञ्चदशैः सार्थं सुधामृतपरिस्त्रवैः ॥ २९ ॥

सौम्य वर्हिष्ठद्, काव्य और अग्निष्वात्—पितरोंके ये तीन भेद हैं। इनमें जो गृहस्थ, यज्ञकर्ता और हवन करनेवाले हैं, वे आर्तव पितर पुराणमें वर्हिष्ठद् नामसे निश्चित किये गये हैं। गृहस्थाश्रमी और यज्ञकर्ता आर्तव पितर अग्निष्वात् कहलाते हैं। अष्टकापति आर्तव पितरोंको काव्य कहा जाता है। अब पञ्चाद्वाओंको द्युनिये। इनमें अग्नि संवत्सर, सूर्य परिवत्सर, सोम इड्वत्सर, वायु अनुवत्सर और रुद्र वत्सर हैं। ये पञ्चाद्वा युगात्मक होते हैं। समयानुसार इनपर स्थित हुए चन्द्रमा अमृतका क्षरण करते हैं। ये देवकर्म कहे जाते हैं। जवतक पुरुषवा वहाँ रहता था, तवतक वह जो सोमप और ऊप्रप पितर हैं, उनको

भी उसी अमृतसे तृप्त करता था। चूँकि चन्द्रमा प्रत्येक मासमें विशेषरूपसे अमृतका क्षरण करते हैं और वह सोमपायी पितरोंको खधामृतरूपसे प्राप्त होता है, इसीलिये वह अमृतखरूप मधु सोमको प्राप्त होता है। इस प्रकार पितरोंद्वारा चन्द्रमाका अमृत पी लिये जानेपर सूर्यदेव अपनी एकमात्र सुषुम्णा नामकी किरणद्वारा उन सोमपायी चन्द्रमाको पुनः परिपूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार सूर्य सुपुण्डाद्वारा पूर्ण किये जाते हुए चन्द्रमाकी पहलेकी सम्पूर्ण कलाओंको दिनके क्रमसे थोड़ा-थोड़ा करके पूर्ण करते हैं। चन्द्रमाकी कलाएँ कृष्णपक्षमें क्षीण हो जाती हैं और शुक्लपक्षमें वे पुनः पूर्ण हो जाती हैं। इस प्रकार सूर्यके प्रभावसे चन्द्रमाका

शरीर पूर्ण होता रहता है। इसी कारण शुक्लपक्षमें दिनके क्रमसे परिपूर्ण किये गये चन्द्रमाका सम्पूर्ण मण्डल पूर्णिमा तिथिको श्वेत वर्णका दिखायी पड़ता है। पहले देवगण चन्द्रमासे स्वत्रित हुए अमृतको पीते हैं, उसके बाद सूर्य भी सोमका पान करते हैं। सूर्य अपनी एक किरणसे पंद्रह दिनोंतक सोमको पीते हैं और पुनः दिनके क्रमसे थोड़ा-थोड़ा कर सुषुम्णा किरणद्वारा उसे पूर्ण कर देते हैं। इसी कारण शुक्लपक्षमें

चन्द्रमाकी कलाएँ बढ़ती हैं और कृष्णपक्षमें वे क्षीण होती हैं, यही इनका क्रम है। इस प्रकार चन्द्रमा पंद्रह दिनोंतक बढ़ते हैं और पुनः पंद्रह दिनतक क्षीण होते रहते हैं। चन्द्रमाकी इस प्रकारकी समुद्धि और हास शुक्लपक्ष एवं कृष्णपक्षके आश्रयसे होते हैं। इस प्रकार सुधामृतवाची पंद्रह किरणोंसे सुशोभित ये चन्द्रमा सुधात्मक एवं पितृमान् कहे जाते हैं ॥ १६-२९ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पर्वाणां संधयश्च याः । यथा ग्रथनन्ति पर्वाणि आवृत्तादिक्षुवेषुवत् ॥ ३० ॥  
तथाच्छ्मासाः पक्षाश्च शुक्राः कृष्णास्तु वै स्मृताः । पौर्णमास्यास्तु यो भैश्चो ग्रन्थयः संधयस्तथा ॥ ३१ ॥  
अर्धमासस्य पर्वाणि द्वितीयाप्रभृतीनि च । अग्न्याधानक्रिया यस्तात्रीयन्ते पर्वसन्धिषु ॥ ३२ ॥

तस्मात् पर्वणो ह्यादौ प्रतिपद्यादिसंधिषु ।

सायाहे अनुमत्याश्च द्वौ ल्वौ काल उच्यते । ल्वौ द्वावेष राकायाः का ग्रे हेयोऽपराह्निकः ॥ ३३ ॥  
प्रकृतिः कृष्णपक्षस्य कालेऽतीतेऽपराह्निके । सायाहे प्रतिपद्येष स कालः पौर्णमासिकः ॥ ३४ ॥  
व्यतीपाते स्थिते सूर्ये लेखादूर्ध्वे युगान्तरम् । युगान्तरोदिते चैव चन्द्रे लेखोपरि स्थिते ॥ ३५ ॥  
पूर्णमासव्यतीपातो यदा पश्येत्परस्परम् । तौ तु वै प्रतिपद्यावत्त्वस्मिन्काले व्यवस्थितौ ॥ ३६ ॥  
तत्कालं सूर्यमुद्दिश्य द्वष्टा संख्यातुमर्हसि । स चैव सल्कियाकालः षष्ठः कालोऽभिधीयते ॥ ३७ ॥  
पूर्णेन्दुः पूर्णपक्षे तु रात्रिसंधिषु पूर्णिमा । तस्मादप्यायते नक्तं पौर्णमासां निशाकरः ॥ ३८ ॥  
यदान्योन्यवतो पाते पूर्णिमां ब्रेक्षते दिवा । चन्द्रादित्योऽपराह्ने तु पूणत्वात्पूर्णिमा स्मृता ॥ ३९ ॥  
यस्मात्तामनुमन्यन्ते पितरो दैवतैः सह । तस्मादनुमतिर्नाम पूर्णत्वात् पूर्णिमा स्मृता ॥ ४० ॥  
अत्यर्थं राजते यस्मात्पौर्णमासां निशाकरः । रज्जनाच्चैव चन्द्रस्य राकेति कवयो विदुः ॥ ४१ ॥  
अमा वसेतामृशे तु यदा चन्द्रदिवाकरौ । एका पञ्चदशी रात्रिरमावस्या ततः स्मृता ॥ ४२ ॥

इसके बाद अब मैं पक्षोंकी जो संधियाँ हैं, उनका वर्णन कर रहा हूँ। जैसे गन्ते और बाँसमें गोलाकार गाँठें बनी रहती हैं, वैसे ही वर्ष, मास, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, अमावस्या और पूर्णिमाके भेद—ये सभी पर्वकी ग्रन्थियाँ और संधियाँ हैं। ( प्रत्येक पक्षमें ) प्रतिपद्-द्वितीया आदि पंद्रह तिथियाँ होती हैं। चूंकि अग्न्याधान आदि क्रियाएँ पर्वसंधियोंमें सम्पन्न की जाती हैं, अतः उन्हे ( अमा, पूर्णिमा ) पर्वकी तथा प्रतिपदाकी संधियोंमें करना चाहिये। चतुर्दशी और पूर्णिमा आदिके दो ल्वको पर्वकाल कहा जाता है तथा राकाके दूसरे दिनमें आनेगाले दो ल्वको पर्वकाल जानना चाहिये। कृष्णपक्षके अपराह्निक कालके व्यतीत हो जानेपर सायंकालमें प्रतिपदाके

योगमें जो काल आता है, उसे पौर्णमासिक कहते हैं। सूर्यके लेखा ( विषुव ) के ऊपर व्यतीपातमें स्थित होनेपर युगान्तर कहलाता है। उस समय चन्द्रमा लेखाके ऊपर स्थित युगान्तरमें उदित होते हैं। इस प्रकार जब चन्द्रमा और व्यतीपात परस्पर एक-दूसरेको देखे और प्रतिपदा तिथितक उसी अवस्थामें स्थित रहे तो उस समय सूर्यके उद्देश्यसे उस समयको देखकर गणना करनी चाहिये। उसे सल्कियाकाल नामक छठा काल कहते हैं। शुक्लपक्षके पूर्ण होनेपर रात्रिकी संधियों जब पूर्णचन्द्र उदय होते हैं, तब उसे पूर्णिमा कहते हैं। इसीलिये चन्द्रमा पूर्णिमाकी रातमें अपनी सभी कलाओंसे पूर्ण हो जाते हैं। पूर्णिमा

तिथिकी हास-वृद्धि होती रहती है, अतः यदि वृद्धिके समय दूसरे दिन सूर्य और चन्द्र दिनमें पूर्णिमामें दीखते हैं तो वह तिथि पूर्ण होनेके कारण पूर्णिमा कहलाती है। यदि दूसरे दिन प्रतिपदाका योग होनेमें चन्द्रमाकी एक कला हीन हो गयी तो उस पूर्णिमाको अनुमति कहते हैं। यह अनुमति देवताओंसहित पितरोंको परम

प्रिय है। चूँकि पूर्णिमाकी रातमें चन्द्रमा अत्यन्त सुशोभित होते हैं, इसलिये चन्द्रमाको प्रिय होनेके कारण उस पूर्णिमाको विद्वानोंने राका नामसे अभिहित किया है। कृष्णपक्षकी पंद्रहवीं रात्रिको जब सूर्य और चन्द्र एक साथ एक नक्षत्रपर स्थित होने हैं, तब उसे अमावास्या कहा जाता है॥ ३०-४२ ॥

उद्दिश्य तामावास्यां यदा दर्शं समागतौ । अन्योन्यं चन्द्रसूर्यौ तु शर्जनाद् दर्शं उच्यते ॥ ४३ ॥  
द्वौ द्वौ लवावमावास्यां स कालः पर्वसंधिपु । द्वयक्षरः कुहुमात्रश्च पर्वकालस्तु च स्मृतः ॥ ४४ ॥

द्वपृचन्द्रा त्वमावास्या मध्यादप्रभृतीह वै ।

दिवा तद्बृह्वं रात्र्यां तु सूर्ये प्राप्ते तु चन्द्रमाः । सूर्येण सहसोद्गच्छेत्ततः प्रातस्तनात् यै ॥ ४५ ॥  
समागम्य लवौ द्वौ तु मध्याहान्निपतन् रविः । प्रतिपञ्चुकुहुपक्षस्य चन्द्रमाः सूर्यमण्डलात् ॥ ४६ ॥

निर्मुच्यमानयोर्मध्ये तयोर्मण्डलयोस्तु वै ।

स तदान्वाहुतेः कालो दर्शस्य च वपटक्रियाः । पतद्वन्तुमुखं शेयमावास्यां तु पार्वणम् ॥ ४७ ॥  
दिवा पर्वं त्वमावास्यां क्षीणेन्द्रौ धवले तु वै । तस्माद् दिवा त्वमावास्यां गृह्णते यो द्विवाकरः ॥ ४८ ॥  
कुहेति कोकिलेनोक्तं यस्माकालात् समाप्तते । तत्कालसंविता द्योपा अमावास्या कुहृः स्मृता ॥ ४९ ॥  
सिनीवालीप्रमाणं तु क्षीणशोपो निशाकरः । अमावास्या विशत्यर्कं सिनीवाली तदा स्मृता ॥ ५० ॥  
अनुमतिश्च राका च सिनीवाली कुहृस्तथा । पतासां द्विलयः कालः कुहृमात्रा कुहृः स्मृता ॥ ५१ ॥  
इत्येव पर्वसन्धीनां कालो वै द्विलवः स्मृतः । पर्वणां तुल्यकालस्तु तुल्याद्युतिवपट्नियाः ॥ ५२ ॥  
चन्द्रसूर्यव्यतीपते समे वै पूर्णिमे उभे । प्रतिपत्तिपञ्चस्तु पर्वकालो द्विमात्रकः ॥ ५३ ॥  
कालः कुहृसिनीवाल्यो समृद्धो द्विलवः स्मृतः । अर्कनिर्मण्डले सोमे पर्वकालः कलाः स्मृताः ॥ ५४ ॥  
यस्मादपूर्यते सोमः पञ्चदश्यां तु पूर्णिमा । दशभिः पञ्चभिद्वैच कलाभिर्दिवसक्रमात् ॥ ५५ ॥  
तस्मात् पञ्चदशे सोमे कला वै नास्ति पोडशी । तस्मात् सोमस्य विप्रोक्तः पञ्चदशायां मया क्षयः ॥ ५६ ॥  
इत्येते पितरो देवाः सोमपाः सोमवर्धनाः । आर्तवा ऋतुवोऽथाद्वा देवास्तान्भावयन्ति हि ॥ ५७ ॥

उस अमावास्याको लक्ष्य कर जब सूर्य और चन्द्रमा दर्शपर आ जाते हैं और परस्पर एक-दूसरे-को देखते हैं, तब उसे दर्श कहते हैं। अमावास्यामें पर्वसंधिके अवसरपर दो-दो लव पर्वकाल कहलाते हैं।

इनमें प्रतिपदाके योगवाला पर्वकाल कुहृ कहलाता है। जिस दिन दोपहरतक अमावास्यामें चन्द्रमाका सम्पर्क बना रहे और उसके बाद रात्रिके प्रातः होनेपर चन्द्रमा सहसा सूर्यके निकट पहुँच जायँ, पुनः प्रातः-काल सूर्यमण्डलसे पृथक् हो जायँ तो शुक्लपक्षकी प्रतिपदामें प्रातःकाल दो लव पर्वकाल कहलाता है। इस प्रकार सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डलके पृथक् होते

समय अमावास्याके उस मध्यवर्ती कालको अन्वाहनि कहते हैं। इसमें पितरोंके निमित्त वपटक्रियाएँ की जाती हैं। इसे ऋतुमुख और अमावास्याको पार्वण जानना चाहिये। दिनमें जब क्षीण चन्द्रमा सूर्यके साथ मिलते हैं, तब अमावास्याका वह काल पर्वकाल कहलाता है। इसीलिये दिनमें अमावास्याके उस पर्वकालमें सूर्यके पहुँचनेपर सूर्य गृहीत हो जाते हैं अर्थात् सूर्य-प्रहण लगता है। कोयलद्वारा उच्चरित 'कुहृ' शब्द जितने समयमें समाप्त होता है, अमावास्याका उतना मुल्य काल 'कुहृ' नामसे कहा जाता है। सिनीवालीका प्रमाण यह है कि जब क्षीण चन्द्रमा सूर्यमें प्रवेश करते हैं, तब वह अमावास्या

सिनीवाली कही जाती है। अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू—इनका दो लवकाल पर्वकाल होता है। कुहू शब्दके उच्चारणपर्यन्त कालको कुहू कहते हैं। इस प्रकार पर्वसंधियोंका यह काल दो लवका बतलाया जाता है और यह पर्वोंके समान फलदायक होता है। इसमें हवन और वषट्किंयाएँ की जाती हैं। चन्द्रमा और सूर्यका व्यातिपातपर स्थित होना तथा दोनों (अमावास्या और पूर्णिमा) पूर्णिमाएँ—ये सभी एक-से पुण्यदायक हैं। प्रतिपदाके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला पर्वकाल दो लवका होता है। इसी प्रकार कुहू और सिनीवालीके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ पर्वकाल भी दो लवका ही माना

जाता है। चन्द्रमा जब सूर्यमण्डलसे बाहर होते हैं, तब वह पर्वकाल एक कलाका बतलाया जाता है। चूँकि दिनके क्रमसे पंद्रहवीं तिथिको चन्द्रमा पंद्रह कलाओंद्वारा पूर्ण किये जाते हैं, इसलिये उस तिथिको पूर्णिमा कहते हैं। इस प्रकार चन्द्रमा पंद्रह कलाओंवाले\* ही हैं, उनमें सोलहवीं कला नहीं है। इसी कारण मैंने पंद्रहवीं तिथिको चन्द्रमाका क्षय बतलाया है। इस प्रकार ये सोमपायी देव-पितर सोमकी वृद्धि करनेवाले हैं और ऋतु एवं अव्द्यसे सम्बन्धित आर्तवसंज्ञक देवगण उन्हींके परिपोषक हैं॥ ४३—५७ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पितृश्राद्भुजस्तु ये । तेषां गर्ति च सत्तत्वं प्राप्तिं श्राद्धस्य चैव हि ॥ ५८ ॥  
न मृतानां गतिः शक्या ज्ञातुं वा पुनरागतिः । तपसा हि प्रसिद्धेन किं पुनर्मास्यक्षुषा ॥ ५९ ॥  
अत्र देवान्पितृं दृचैते पितरो लौकिकाः स्मृताः । तेषां ते धर्मसामर्थ्यात्स्मृताः सायुज्यगा द्विजैः ॥ ६० ॥  
यदि वाश्रमधर्मेण प्रज्ञानेषु व्यवस्थितान् । अन्ये चात्र प्रसीदन्ति श्राद्धायुक्तेषु कर्मसु ॥ ६१ ॥  
ब्रह्मचर्येण तपसा यज्ञेन प्रजया भुवि । श्राद्धेन विद्यया चैव चान्दानेन सप्तधा ॥ ६२ ॥

कर्मस्वेवैषु ये सक्ता वर्तन्त्या देहपातनात् ।

देवैस्ते पितृभिः सार्थमूर्यपैः सोमपैस्तथा । स्वर्गता दिवि मोदन्ते पितृमन्त उपासते ॥ ६३ ॥  
प्रजावतां प्रसिद्धैवा उक्ता श्राद्धकृतां च वै । तेषां निवापे दत्तं हि तत्कुलीनैस्तु वान्धवैः ॥ ६४ ॥  
मासश्राद्धं हि भुज्जानास्तेऽप्येते सोमलौकिकाः । एते मनुष्याः पितरो मासश्राद्धभुजस्तु वै ॥ ६५ ॥  
तेभ्योऽपरे तु ये त्वन्ये सङ्कीर्णाः कर्मयोनिषु । अष्टाश्चाश्रमधर्मेषु स्वधास्वाहाविवर्जिताः ॥ ६६ ॥  
भिन्ने देहे दुरापन्नाः प्रेतभूता यमक्षये । स्वकर्माण्यनुशोचन्तो यातनास्थानमागताः ॥ ६७ ॥  
दीर्घादृचैवतिश्युष्काश्च इमशुलाश्च विवाससः । भुत्पिपासाभिभूतास्ते विद्रवन्ति त्वितस्ततः ॥ ६८ ॥  
सरित्सरस्तडागानि पुष्करिण्यश्च सर्वशः । परान्नान्यभिकाङ्क्षन्तः काल्यमाना इतस्ततः ॥ ६९ ॥  
स्थानेषु पात्यमाना ये यातनास्थेषु तेषु वै । शालमल्यां वैतरण्यां च कुम्भीपाकेज्जवालुके ॥ ७० ॥  
असिपत्रवने चैव पात्यमानाः स्वकर्मभिः । तत्रस्थानां तु तेषां वै दुखितानामशारिनाम् ॥ ७१ ॥

तेषां लोकान्तरस्थानां बान्धवैर्नामगोत्रतः ।

भूमावसव्यं दर्भेषु दत्ताः पिण्डाख्यस्तु वै । प्राप्तांस्तु तर्पयन्त्येव प्रेतस्थानेष्वधिष्ठितान् ॥ ७२ ॥  
इसके बाद अब मैं जो श्राद्धभोजी पितर हैं, उनकी गति, उनका उत्तम तत्व तथा उनके निमित्त दिये गये श्राद्धकी प्राप्तिका वर्णन कर रहा हूँ। मृतकोंके आवागमनको रहस्य तो उत्कृष्ट तपोबलसम्पन्न तपसी भी

नहीं जान सकते, फिर चर्मचक्षुधारी साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इन श्राद्धभोजियोंमें देवता और पितर दोनों हैं। इनमें जो अपने धर्मके बलसे सायुज्यमुक्तिको प्राप्त कर चुके हैं अथवा आश्रमधर्मका पालन

\* इसको विस्तृत वर्णन सूर्यसिद्धान्त, बृहत्संहिता आदिमें है। १६ वीं बीजकलासहित १५ हास-वृद्धियुक्त कलायोंका वर्णन शारदातिलक आदिमें इस प्रकार है—‘अमृता मानदा नन्दा पूषा बृष्टि रतिर्षुतिः। शायिनी चम्द्रिका कान्तिज्योत्स्ला श्रीः प्रीतिरङ्गदा॥। पूर्णा-पूर्णामृता कामदायिन्यः स्वरजाः कलाः । (शारदातिलक २ । १२-१३ )

करते हुए ज्ञान-ग्राहिमें लगे हुए हैं और श्रद्धायुक्त कर्मके सम्बन्ध होनेपर प्रसन्न होते हैं, उन्हे महर्षिण लौकिक पितर कहते हैं। ब्रह्मचर्य, तप, यज्ञ, संतान, श्राद्ध, विद्या और अनन्दान—ये भूतलपर प्रधान धर्म कहे गये हैं। जो लोग मृत्युपर्यन्त इन सातों धर्मोंका पालन करते हुए इनमें आसक्त रहते हैं, वे उप्पप तथा सोमप देवताओं और पितरोंके साथ सर्वगतेकमें जाकर आनन्दका उपभोग करते हुए पितरोंकी उपासना करते हैं। ऐसी प्रसिद्धि उन संतानयुक्त श्राद्धकर्ताओंके लिये कही गयी है, जिनके लिये उनके कुनीन भाई-बच्चुओंने दानके अवसरपर श्राद्ध आदि प्रदान किया है। मासिक श्राद्धमें भोजन करनेवाले पितर चन्दलोक-बासी हैं। ये मासश्राद्धभोजी पितर मनुष्योंके पितर हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य लोग कर्मानुसार प्राप्त हुई मोनियोंमें कष्ट द्वेष रहे हैं, वाश्रमधर्मसे भ्रष्ट हो गये हैं, जिनके लिये साहान्सधाका प्रयोग हुआ ही नहीं है,

जो शरीरके नष्ट होनेपर यमलोकमें प्रेत होकर दुर्गति भोग रहे हैं, नरकस्थानपर पहुँचकर अपने कर्मापर पश्चात्ताप करते हैं, लम्बे शरीरवाले, अत्यन्त कृशकाद, लम्बी दाढ़ीयोंसे युक्त, बद्धहीन और भूख एवं प्याससे व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ते हैं, नदी, सरोवर, तड़ाग और जलाशयोंपर सब और दूसरोंके द्वारा दिये गये अन्नकी ताकमें इधर-उधर वूमते रहते हैं, शालमली, वैतरणी, कुम्भीपात्र, तसवालुका और असिपत्रवन नामक भीपण नरकोंमें अपने कर्मानुसार गिराये जाते हैं तथा उन नरकोंमें पढ़े हुए जो निदारहित हो दुःख भोग रहे हैं, उन लोकान्तरमें स्थित जीवोंके लिये उनके भाई-बच्चुओंद्वारा यहाँ भूतलपर जब उनका नाम-गोत्र उच्चारण कर अपसव्य होकर कुशोंपर तीन पिण्ड प्रदान किये जाते हैं, तब प्रेतस्थानोंमें स्थित होनेपर भी वे पिण्ड उन्हें प्राप्त होकर तृप्त करते हैं ॥ ५८-७२ ॥

अप्राप्ता यातनास्थानं प्रभ्रष्टा ये च पञ्चधा । पश्चाद्ये स्यावरान्ते वै भूतानीके स्वकर्मभिः ॥ ७३ ॥  
नानारूपासु जातीनां तिर्यग्योनिषु मूर्तिषु । यदाह्वारा भवन्त्येते तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

तस्मिस्तस्मिस्तदाह्वारे श्राद्धे दक्षं तु प्रीणयेत् ।

काले न्यायागतं पात्रे विधिना प्रतिपादितम् । प्राप्नुवन्त्यन्नमादक्षं यत्र यत्रावतिष्ठति ॥ ७५ ॥  
यथा गोषु प्रनष्टासु वत्सो धिन्दति मातरम् । तथा श्राद्धेषु हृष्टान्तो मन्त्रः प्रापयते तु तम् ॥ ७६ ॥  
एवं ह्यविकलं श्राद्धं श्राद्धादक्षं मनुर्वृचीत् । सनकुमारः प्रोचाच पश्यन् दिव्येन चक्षुपा ॥ ७७ ॥  
गतागतश्चः प्रेतानां प्राप्ति श्राद्धस्य चैव हि । कृष्णपक्षस्त्वहस्तेषां शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ७८ ॥  
इत्येते पितरो देवा देवाद्यच्च पितरदक्षं वै । अन्योऽन्यपितरो हृष्टे देवाद्यच्च पितरो दिवि ॥ ७९ ॥  
पते तु पितरो देवा मनुष्याः पितरदक्षं ये । पिता पितामहदक्षैव तथैव प्रपितामहः ॥ ८० ॥  
इत्येप विययः प्रोक्तः पितॄणां सोमपायिनाम् । एतत्पितॄमहस्त्वं हि पुराणे निश्चयं गतम् ॥ ८१ ॥  
इत्येप सोमसूर्याभ्यामैलस्य च समागमः । अवास्ति श्राद्धया चैव पितॄणां चैव तर्पणम् ॥ ८२ ॥  
पर्वणां चैव यः कालो यातनास्थानमेव च । समासाल्कीतिंस्तुभ्यं सर्गं एष सनातनः ॥ ८३ ॥  
घैर्कृप्य येन तत्सर्वं कथितं त्वेकदेशिक्षम् । अद्वद्युं परिसंख्यातुं श्रद्धेयं भूतिमिच्छता ॥ ८४ ॥  
स्वायम्भुवस्य देवस्य एष सर्गो मयेत्तिः । विस्तरेणानुपूर्वाच्च भूयः किं कथयामि यः ॥ ८५ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकीर्तने श्राद्धानुकीर्तच नार्मकचत्वारिंशदधिकशततमोऽव्यायः ॥ १४१ ॥

जो नरकोंमें न जाकर पौच्छ प्रकारसे विमक्त होकर जातियो, तिर्यग्योनियो एवं अन्य जन्मुओंमें जन्म ले भ्रष्ट हो चुके हैं अर्यात् जो मृत्युके उपरान्त अपने चुके हैं, वहाँ उन-उन योनियोंमें वे जैसे आहारवाले कर्मके अनुसार स्थावर, भूत-प्रेत, अनेकों प्रकारकी होते हैं, उन्हाँ-उन्हीं योनियोंमें उसी आहारके रूपमें

षरिणत होकर श्राद्धमें दिया गया पिण्डे उन्हें तृप्त करता है। यदि श्राद्धोपयुक्त कालमें न्योयोपार्जित अन्न (मृतकोंके निमित्त) विधिपूर्वक संतप्तात्रको दान किया जाता है तो वह अन्न वे मृतक जहाँ-कहाँ भी रहते हैं, उन्हें प्राप्त होता है। जैसे बछड़ा गौओंमें बिलीन हुई अपनी माँको छूँड़ निकालता है, उसी प्रकार श्राद्धमें प्रयुक्त हुआ मन्त्र (दानकी वस्तुओंको) उस जीवके पास पहुँचा देता है। इस प्रकार विधानपूर्वक श्रद्धासहित दिया गया श्राद्ध-दान उस जीवको प्राप्त होता है— ऐसा मनुने कहा है। साथ ही महर्षि सनत्कुमारने भी, जो त्रेतोंके गुमनागमनके जाता हैं, दिव्य चक्षुसे देखकर श्रद्धकी प्राप्तिके विषयमें ऐसा ही बतलाया है। कृष्णपक्ष उन पितरोंके दिन है तथा शुक्लपक्ष शयन करनेके लिये उनकी रात्रि है। इस प्रकार ये पितृदेव और देवपितर स्वर्गलोकमें परस्पर एक-दूसरेके देवता और

इस प्रकार श्रीमत्यमहापुराणके मन्वन्तरानुकीर्तनके प्रसङ्गमें आदानुकीर्तन नामक एक सौ एकतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४१ ॥

## एक सौ बयालीसवाँ अध्याय युगोंकी कालगणना तथा त्रेतायुगका वर्णन

ऋषय उच्चः

चतुर्युगाणि यानि स्युः पूर्वे स्वायम्भुवेऽन्तरे । एषां निसर्गं संख्यां च श्रोतुमिच्छामो विस्तरात् ॥ १ ॥  
ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! पूर्वकालमें स्वायम्भुव- सूष्टि और संख्याके विषयमें हमलोग विस्तारपूर्वक सुनना मन्वन्तरमें जिन चारों युगोंका प्रवर्तन हुआ है, उनकी चाहते हैं ॥ १ ॥

सुर उदाच

पृथिवीयुगसङ्गेन भया तु माण्याद्यतम् ।

पतञ्जतुर्युगं त्वं तद् वस्थामि जिदोधत । तत्त्वमाणं ग्रसस्वाय विस्तराच्चैव छत्तशः ॥ २ ॥  
लौकिकेन प्रमाणेन निष्पादाव्दं तु मानुषम् । तेनापीह ग्रसस्वाय वस्थामि तु चतुर्युगम् ॥ ३ ॥  
काष्ठानिमेश दश पञ्च चैव त्रिशत्प्राप्तं गणयेत् कलां तु ।

जिशत्कलाश्चैव भवेन्मुहूतस्त्रियशता रात्र्यहनी समेते ॥ ४ ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषलौकिके । रात्रिः स्वमाय भूतानां चेष्टायै कर्मणमहः ॥ ५ ॥  
पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्त्वयोः पुनः । कृष्णपक्षस्त्वहस्तेषां शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६ ॥  
त्रिशद् ये मानुषो मासाः पैत्रो मासः स छच्यते ।

शतानि त्रीणि मासानां संख्या चाभ्यधिकानि तु । पैत्रः संवत्सरो होष मानुषेण विभाव्यने ॥ ७ ॥  
मानुषेणैव मानेन वर्षाणां यच्छतं भवेत् ।

पितॄणां तानि वर्षाणि संख्यातानि तु त्रीणि वै । दश च द्वयधिका मासाः पितॄसंख्येह कीर्तिंताः ॥ ८ ॥  
लौकिकेन प्रमाणेन अब्दो यो मानुषः स्मृतः । एतद्विष्यमहोरात्रमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋग्यो ! पृथ्वी और आकाशके प्रसङ्गसे मैंने पहले ही इन चारों युगोंका वर्णन कर दिया है, फिर भी ( यदि आपलोगोंकी उनको सुननेकी अभिलाप्ता है तो ) संख्यापूर्वक उनके प्रमाणको विस्तारके साथ समूचे रूपमें बतला रहा हूँ, सुनिये । लौकिक प्रमाणके द्वारा मानवीय वर्षका आश्रय लेकर उसीके अनुसार गणना करके चारों युगोंका प्रमाण बतला रहा हूँ । पंद्रह निमेष ( ऑखके खोलने और मूँदनेका समय ) की एक काष्ठा और तीस काष्ठाकी एक कला मानी जाती है । तीस कलाका एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्तके रात-दिन दोनों होते हैं । सूर्य मानवीय लोकमें दिन-रातका विभाजन करते हैं । उनमें रात्रि जीवोंके शयन करनेके लिये और दिन कर्ममें प्रवृत्त

होनेके लिये है । पितरोंके रात-दिनका एक लौकिक मास होता है । उनमें रात-दिनका विभाग है । पितरोंके लिये कृष्णपक्ष दिन है और शुक्लपक्ष शयन करनेके लिये रात्रि है । मनुष्योंके तीस मासका पितरोंका एक मास कहा जाता है । इस प्रकार तीन सौ साठ मानव-मासोंका एक पितॄ-वर्ष होता है । यह गणना मानवीय गणनाके अनुसार की जाती है । मानवीय गणनाके अनुसार एक सौ वर्ष पितरोंके तीन वर्षके बराबर माने गये हैं । इस प्रकार पितरोंके बारहों महीनोंकी संख्या बतलायी जा चुकी । लौकिक प्रमाणके अनुसार जिसे एक मानव-वर्ष कहते हैं, वही देवताओंका एक दिन-रात होता है—ऐसी वैदिकी श्रुति है ॥ २-९ ॥

दिव्ये रात्र्यहनी वर्षं  
अहस्तु यदुदक्षचैव रात्रियां दक्षिणायनम् । एते रात्र्यहनी दिव्ये प्रसंख्याते तयोः पुनः ॥ १० ॥  
त्रिशाद् यानि तु वर्षाणि दिव्यो मासस्तु स स्मृतः ।

मानुषाणां शतं यच्च दिव्या मासाख्यस्तु वै । तथैव सह संख्यातो दिव्य एष विधिः स्मृतः ॥ ११ ॥  
त्रीणि वर्षशतान्येवं वर्षिर्वर्षस्तथैव च । दिव्यः संवत्सरो होष मानुषेण प्रकीर्तिः ॥ १२ ॥  
त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः । त्रिशाद्यन्यानि वर्षाणि स्मृतः सप्तर्षवत्सरः ॥ १३ ॥  
नव यानि सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि च । वर्षाणि नवतिश्चैव ध्रुवसंवत्सरः स्मृतः ॥ १४ ॥  
षट्क्रिंशत् तु सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि च ।

परिश्चैव सहस्राणि संख्यातानि तु संख्यया । दिव्यं वर्षसहस्रं तु प्राहुः संख्याविदो जनाः ॥ १५ ॥  
इत्येतद् ऋग्यभिर्गीतं दिव्यया संख्यया द्विजाः । दिव्येनैव प्रमाणेन युगसंख्या प्रकल्पिता ॥ १६ ॥  
चत्वारि भारते वर्षे युगानि ऋषयोऽनुवन् । कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैवं चतुर्युगम् ॥ १७ ॥  
पूर्वं कृतयुगं नाम तत्त्वेताभिधीयते । द्वापरं च कलिश्चैव युगानि परिकल्पयेत् ॥ १८ ॥  
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् । तस्य तावच्छती संघ्या संध्यांशाश्च तथाविधः ॥ १९ ॥  
इतरेषु संसंध्येषु संसंध्यांशेषु च त्रिषु । एकपदे निवर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ २० ॥

मानवीय वर्षके अनुसार जो देवताओंके रात-दिन होते हैं, उनमें भी पुनः विभाग हैं । उनमें उत्तरायणको देवताओंका दिन और दक्षिणायनको रात्रि कहा जाता है । इस प्रकार

दिव्य रात-दिनकी गणना बतलायी जा चुकी । तीस मानवीय वर्षोंका एक दिव्य मास बतलाया जाता है । इसी प्रकार सौ मानवीय वर्षोंका तीन दिव्य मास माना गया है । यह दिव्य

गणनाकी विधि कही जाती है। मानुष-गणनाके अनुसार तीन सौ साठ वर्षोंका एक दिव्य (देव)वर्ष कहा गया है। मानुष-गणनाके अनुसार तीन हजार तीस वर्षोंका एक सप्तर्ष-वर्ष होता है। नौ हजार नवे मानुष-वर्षोंका एक हजार दिव्य वर्ष होता है—ऐसा गणितज्ञ लोग कहते हैं। द्विजवरो! इस प्रकार ऋषियोंद्वारा दिव्य गणनाके अनुसार यह गणना बतलायी गयी है। इसी दिव्य प्रमाणके अनुसार युग-संख्याकी भी कल्पना की

गयी है। ऋषियोंने इस भारतर्षमें चार युग बतलाये हैं। उन चारों युगोंके नाम हैं—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। इनमें सर्वप्रथम कृतयुग, तत्पश्चात् त्रेता, तब द्वापर और कलियुग आनेकी परिकल्पनाकी गयी है। उनमें कृतयुग चार हजार (दिव्य) वर्षोंका बतलाया जाता है। इसी प्रकार चार सौ वर्षोंकी उसकी संध्या और चार सौ वर्षोंका संध्यांश होता है। इसके अतिरिक्त संध्या और संध्यांशसहित अन्य तीनों युगोंमें हजारों और सैकड़ोंकी संख्यामें एक चतुर्थांश कम हो जाता है ॥१०-२०॥

त्रेता त्रीणि सहस्राणि युगसंख्याविदो विदुः । तस्यापि त्रिवाती संध्या संध्यांशः संध्यया समः ॥ २१ ॥  
द्वे सहस्रे द्वापरं तु संध्यांशौ तु चतुर्थातम् ।

सहस्रमेकं वर्षाणां कलिरेव प्रकीर्तिः । द्वे शते च तथान्ये च संध्यासंध्यांशयोः समृते ॥ २२ ॥  
एषा द्वादशसाहस्री युगसंख्या तु संक्षिता । कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्थयम् ॥ २३ ॥  
तत्र संवत्सराः सृष्टा मानुषास्तान् निवोधत ।

नियुतानि दश द्वे च पञ्च चैवात्र संख्यया । अष्टार्विंशत्सहस्राणि कृतं युगमयोच्यते ॥ २४ ॥  
प्रयुतं तु तथा पूर्णं द्वे चान्ये नियुते पुनः ।

पण्णवतिसहस्राणि संख्यातानि च संख्यया । त्रेतायुगस्य संख्यैषा मानुषेण तु संक्षिता ॥ २५ ॥  
अप्यौ शतसहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि तु । चतुर्षष्ठिसहस्राणि वर्षाणां द्वापरं युगम् ॥ २६ ॥  
चत्वारि नियुतानि स्युर्वर्षाणि तु कलिर्युगम् ।

द्वार्त्रिवाच तथान्यानि सहस्राणि तु संख्यया । एतत् कलियुगं प्रोक्तं मानुषेण प्रमाणतः ॥ २७ ॥  
एषा चतुर्युगावस्था मानुषेण प्रकीर्तिं । चतुर्युगस्य संख्याता संध्या संध्यांशकैः सह ॥ २८ ॥

इस प्रकार युगसंख्या ज्ञाता लोग त्रेताका प्रमाण तीन हजार वर्ष, उसकी संध्याका प्रमाण तीन सौ वर्ष और संध्याके बराबर ही संध्यांशका प्रमाण तीन सौ वर्ष बतलाते हैं। द्वापरका प्रमाण दो हजार वर्ष और उसकी संध्या तथा संध्यांशका प्रमाण दो-दो सौ अर्थात् चार सौ वर्षोंका होता है। कलियुग एक हजार वर्षोंका बतलाया गया है तथा उसकी संध्या और संध्यांश मिलकर दो सौ वर्षोंके होते हैं। इस प्रकार कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये चार युग होते हैं और इनकी काल-संख्या बारह हजार दिव्य वर्षोंकी बतायी गयी है। अब मानुष-

वर्षके अनुसार इन युगोंमें कितने वर्ष होते हैं, उसे सुनिये। इनमें कृतयुग सत्रह लाख अट्टार्ड्स हजार वर्षोंका कहा जाता है। इसी मानुष गणनाके अनुसार त्रेतायुगकी वर्ष-संख्या बारह लाख छानवे हजार बतलायी गयी है। द्वापरयुग आठ लाख चौसठ हजार मानुष वर्षोंका होता है। मानुष गणनाके अनुसार कलियुगका मान चार लाख बत्तीस हजार वर्षोंका कहा गया है। चारों युगोंकी यह अवस्था मानव-गणनाके अनुसार बतलायी गयी है। इस प्रकार संध्या और संध्यांशसहित चारों युगोंकी संख्या बतलायी जा चुकी ॥ २१-२८ ॥

एषा चतुर्युगावस्था तु साधिका त्वेकसप्ततिः । कृतत्रेतादियुका सा मनोरन्तरसुच्यते ॥ २९ ॥  
मन्वन्तरस्य संख्या तु मानुषेण निवोधत । एष्टार्विंशत् तथा कोष्ठयः संख्याताः संख्यया द्विजैः ॥ ३० ॥

(अब मन्वन्तरका वर्णन करते हैं ।) इन कृतयुग, व्रेता आदि युगोंकी यह चौकड़ी जब एकहस्त वार वीत जाती है, तब उसे एक मन्वन्तर कहते हैं । अब मन्वन्तरकी वर्षसंख्या मानुष गणनाके अनुसार सुनिये । मानव-वर्षके अनुसार एक मन्वन्तरकी वर्ष-संख्या एकतीस करोड़ दस लाख बत्तीस हजार आठ सौ अरसी वर्ष छः महीनेकी वतलायी जाती है । अब मैं दिव्य गणनाके अनुसार एक लाख चालीस हजार दिव्य वर्षोंका वतलाया जाता है । मन्वन्तरका समय युग-वर्णनके साथ ही कहा जा चुका है । चारो युगोंकी यह चौकड़ी जब क्रमशः एकहस्त वार वीत जाती है, तब उसे एक मन्वन्तर कहते हैं । कालतत्त्वको जाननेवाले विद्वान् मन्वन्तरके चौदह गुने कालको एक कल्प वतलते हैं इसके अथ ब्रतयुगस्यादौ मनुः सतर्पयश्च ये । श्रौतसार्तं द्विवन् धर्मं ब्रह्मणा तु प्रचेदिताः ॥ ४० ॥ परम्परागतं धर्मं सार्तं त्वाभ्यर्थक्षणम् । वर्णश्रामाचारयुतं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ४१ ॥ सत्येन ब्रह्मचर्येण श्रातेन तपला तथा । तेषां द्वितीयसप्तसामार्पणातुकमेण ह ॥ ४२ ॥ सतर्दीगां मनोर्ध्वं वादो ब्रतयुगे ततः । अहुद्विपूर्वकं तेन सच्छत्यर्वकमेव च ॥ ४३ ॥ अभिमुत्तरात् ते मन्त्रा द्वयेनस्तारकाधिभिः । अदिकल्पे तु देवानां प्रादुर्भूतात्सु ते स्वयम् ॥ ४४ ॥ मन्त्रयोगो व्यहीतेषु कल्पेष्वय सिद्धानामन्येषां च प्रवर्तते । ते मन्त्रा वै पुनर्सेवां प्रतिमायासुपस्थिताः ॥ ४५ ॥ ऋचो यजूंपि सामानि मन्त्राश्चार्थवैष्णाम् त्रेतादौ संहृता वेदाः केवलं धर्मसेवतः । सतर्पिभिश्च ये प्रोक्ताः सार्तं तु मनुरब्रवीत् ॥ ४६ ॥ संरोधादायुपश्चैव व्यस्त्वे द्वापरे च ते । ऋष्यस्तपसा वेदानहोरात्रमधीयत ॥ ४७ ॥

अनादिनिधना दिव्याः पूर्वं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ।

स्वधर्मसंबृताः साङ्गा यथाधर्मं युगे युगे । चिकियन्ते स्वधर्मं तु वेदवादाद् यथायुगम् ॥ ४२ ॥  
आरम्भवशः क्षत्रस्य हनिर्यज्ञा विशः स्मृताः । परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञाश्च ब्राह्मणाः ॥ ५० ॥  
ततः समुदिता वर्णास्त्रेतायां धर्मशालिनः । क्रियावन्तः प्रजावन्तः समृद्धाः सुखिनश्च वै ॥ ५१ ॥  
ब्राह्मणश्चैव चिधीयन्ते क्षत्रियैर्विशः । वैश्याशूद्रानुवर्तन्ते परस्परमनुग्रहात् ॥ ५२ ॥  
शुभाः प्रकृतयस्तेषां धर्मा वर्णाश्रमाश्रयाः ।

त्रेतायुगके आदिमें जो मनु और सतर्पिण थे, उन लोगोंने ब्रह्माकी प्रेरणासे श्रौत और स्मार्त धर्मोंका वर्णन किया था । उस समय सतर्पियोंने दार-सम्बन्ध (विवाह), अग्निहोत्र, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी संहिता आदि अनेकविध श्रौत धर्मोंका विवेचन किया था । उसी प्रकार स्वायम्भुव मनुने वर्णों एवं आश्रमोंके धर्मोंसे युक्त परम्परागत आचार-लक्षणरूप स्मार्त-धर्मका वर्णन किया था । त्रेतायुगके आदिमें उत्कृष्ट तपस्यावाले उन सतर्पियों तथा मनुके हृदयमें वे मन्त्र सत्य, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-ज्ञान, तपस्या तथा ऋषि-परम्पराके अनुक्रमसे विना सोचे-विचारे ही दर्शनों एवं तारकादिद्वारा एक ही बारमें स्वयं प्रकट हो गये थे । वे ही मन्त्र आदि कल्पमें देवताओंके हृदयोंमें स्वयं उद्भूत हुए थे । वह मन्त्रयोग हजारों गत-कल्पोंमें सिद्धों तथा अन्यान्य लोगोंके लिये भी प्रमाणरूपमें प्रयुक्त होता था । वे मन्त्र पुनः उन देवताओंकी प्रतिमाओंमें भी उपस्थित हुए । इस प्रकार

संकलिपतेन मनसा वाचा वा इस्तकर्मणा । त्रेतायुगे ह्यविकले कर्मारम्भः प्रसिद्धश्चति ॥ ५३ ॥  
आयु रूपं वलं मेधा आरोग्यं धर्मशीलता । सर्वसाधारणं ह्येतदासीत् त्रेतायुगे तु वै ॥ ५४ ॥  
वर्णाश्रमव्यवस्थानामेषां ब्रह्मा तथाकरोत् । संहिताश्च तथा मन्त्रा आरोग्यं धर्मशीलता ॥ ५५ ॥  
संहिताश्च तथा मन्त्रा ऋषिभिर्ब्रह्मणः सुतैः । यद्धः प्रवर्तितश्चैव तदा ह्येव तु दैवतैः ॥ ५६ ॥

यामैः शुक्लर्जयैहृचैव सर्वसाधनसमृद्धैः ।

चिश्वस्तुद्भिस्तथा साध देवेन्द्रेण महोजसा । स्वायम्भुवेऽन्तरे देवैस्ते यद्धाः प्राक् प्रवर्तिताः ॥ ५७ ॥  
सत्यं जपस्तपो दानं पूजधर्मो य उच्यते । यदा धर्मस्य ह्यस्ते शास्त्राधर्मस्य वर्धते ॥ ५८ ॥  
जायन्ते च तदा शूरा आयुष्मन्तो महाबलाः । न्यस्तदण्डा महायोगा यज्वानो ब्रह्मचादिनः ॥ ५९ ॥  
पद्मपत्रायताक्षाश्च पृथुवक्त्राः सुसंहताः । सिंहोरस्का महासत्त्वा मत्तमातङ्गामिनः ॥ ६० ॥  
महाधनुर्धराश्चैव त्रेतायां चक्रवर्तिनः । सर्वलक्षणपूर्णस्ते न्यग्रोधपरिमण्डलाः ॥ ६१ ॥  
न्यग्रोधौ तु स्मृतौ बाहू व्यामो न्यग्रोध उच्यते ।  
व्यामेनैवोच्छ्रूयो यस्य सम ऊर्चं तु देहिनः । समुच्छ्रूयपरिणाहो न्यग्रोधपरिमण्डलः ॥ ६२ ॥

चक्रं रथो मणिर्मार्या निधिरद्वयो गजस्तथा । प्रोक्तानि सत रत्नानि सर्वपां चक्रवर्तिनाम् ॥ ६३ ॥  
चक्रं रथो मणिः खङ्गं धनू रत्नं च पञ्चमम् । केतुनिधिश्च पञ्चेते प्राणहीनाः प्रकीर्तिताः ॥ ६४ ॥  
विष्णोरंशेन जायन्ते पृथिव्यां चक्रवर्तिनः । मन्वन्तरेषु सर्वेषु ह्यतीतानागतेषु वै ॥ ६५ ॥

समूचे त्रेतायुगके कार्यकालमें मानसिक संकल्प, और सुन्दर, सुख भरेषुरे और शरीर सुसांगित वचन और हाथसे प्रारम्भ किये गये कर्म सिद्ध होते थे, जिनकी छाती सिंहके समान चौड़ी थी, जो महान् पराक्रमी और मतवाले गजराजकी भाँति चलनेवाले और महान् धनुर्धर थे, वे सभी राजलक्षणोंसे परिपूर्ण तथा न्यग्रोध ( वरगद् ) सदृश मण्डलवाले थे । यहाँ दोनों वाहूओंको ही न्यग्रोध कहा जाता है तथा व्योममें फैलायी हुई वाहूओंका मध्यमाग भी न्यग्रोध कहलाता है । उस व्योमकी ऊँचाई और विस्तारवाला 'न्यग्रोधपरिमण्डल' कहलाता है, अतः जिस प्राणीका शरीर व्योमके वरावर ऊँचा और विस्तृत हो, उसे न्यग्रोधपरिमण्डल कहा जाता है । पूर्वकालके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें चक्र ( शासन, अङ्गाद भी ), रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व और गज—ये सातों ( चल ) रत्न कहे गये हैं । दूसरा चक्र ( अचल ) रथ, मणि, खङ्ग, धनुष, रत्न, झंडा और खजाना—ये स्थिर ( अचल ) सतरत्न हैं । ( सब मिलकर ये ही राजाओंके चौदह रत्न हैं । ) वीते हुए एवं आनेवाले सभी मन्वन्तरोंमें भूतलपर चक्रवर्ती समाट् विष्णुके अंशसे उत्पन्न होते हैं ॥ ५३—६५ ॥

भूतभव्यानि यानीह वर्तमानानि यानि च । त्रेतायुगानि तेष्वव जायन्ते चक्रवर्तिनः ॥ ६६ ॥  
भद्राणीमानि तेषां च विभाव्यन्ते महीक्षिताम् । अत्यद्गुतानि चत्वारि वलं धर्मं सुखं धनम् ॥ ६७ ॥  
अन्योन्यस्याविरोधेन प्राप्यन्ते नृपतेः समम् । अर्थां धर्मद्वच क्षमद्वच यशो विजय पव च ॥ ६८ ॥  
पैश्चयेणाणिमाद्येन प्रभुशक्तिवलान्विताः । श्रुतेन तपसा चैव ऋषीस्तेऽभिभवन्ति हि ॥ ६९ ॥  
चलेनाभिभवन्येते द्वद्वानवमानवान् । लक्षणैश्चैव जायन्ते शरीरस्थैरमानुयैः ॥ ७० ॥  
केशाः स्थिता ललाटोर्णा जिद्वा चास्य प्रमार्जनी । तास्त्रप्रभाद्वचतुर्द्वाः सुवंशाश्चोर्वरेतसः ॥ ७१ ॥  
आजानुवाहवद्वचैव जालहस्ता चृपाद्विनाः । परिणाहप्रमाणाभ्यां सिंहस्कन्धाद्वच मंधिनः ॥ ७२ ॥  
पाद्योश्चक्रमस्त्वौ तु शहृपद्वे च हस्तयोः । पञ्चाशीतिसहचाणि जीवन्ति ह्यजरामयाः ॥ ७३ ॥  
वसङ्गा गतयस्तेषां चतुर्द्वचक्रवर्तिनाम् । अन्तरिक्षे समुद्रेषु पातालं पर्वतेषु च ॥ ७४ ॥  
इज्या द्वानं तपः सत्यं चेताधर्मास्तु वै स्मृताः ।

तदा प्रवर्तते धर्मो चर्णश्चमविभग्यः । मर्यादास्यापनार्थं च दण्डनीतिः प्रवर्तते ॥ ७५ ॥

६ वास्त्वीकीय रामायण ३ । ३५ तथा भट्टिकाव्य ५ में सीताजीको 'न्यग्रोधपरिमण्डला' कहा गया है ।

हृष्पुष्टा जनाः सर्वे अरोगाः पूर्णमानसाः ।

एको वेदश्चतुष्पादस्त्रेतायां तु विधिः स्मृतः । त्रीणि वर्षसहस्राणि जीवन्ते तत्र ताः प्रजाः ॥ ७६ ॥  
पुत्रपौत्रसमाकीर्णा भ्रियन्ते च क्रमेण ताः । एष त्रेतायुगे भावस्त्रेतासंध्यां निवोधत ॥ ७७ ॥  
त्रेतायुगस्वभावेन संध्यापादेन वर्तते । संध्यापादः स्वभावाच्च योऽशः पादेन तिष्ठति ॥ ७८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकल्पे नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानमें जितने त्रेतायुग हुए होंगे और हैं, उन सभीमें चक्रवर्तीं सम्राट् उत्पन्न होते हैं । उन भूपालोंके बल, धर्म, सुख और धन—ये चतुर्भुवं चारों अत्यन्त अद्भुत और माझलिक होते हैं । उन राजाओंको अर्थ, धर्म, काम, यश और विजय—ये सभी समानरूपसे परस्पर अविरोध भावसे प्राप्त होते हैं । प्रभुशक्ति और बलसे सम्पन्न वे वृपतिगण ऐश्वर्य, अणिमा आदि सिद्धि, शाखज्ञान और तपस्यामें ऋषियोंसे भी बढ़-चढ़कर होते हैं । इसलिये वे सम्पूर्ण देव-दानवों और मानवोंको बलपूर्वक पराजित कर देते हैं । उनके शरीरमें स्थित सभी लक्षण दिये होते हैं । उनके सिरके बाल छलाटक फैले रहते हैं । उनकी जीभ बड़ी सच्छ और स्निग्ध होती है । उनकी अङ्ग-कान्ति लाल होती है । उनके चार दाढ़े होते हैं । वे उत्तम वंशमें उत्पन्न, ऊर्ध्वरेता, आजानुबाहु, जालहस्त हाथोंमें जालचिह्न तथा बैल आदि ऐष चिह्नयुक्त परिणामात्र लम्बे होते हैं । उनके कंधे सिंहके समान मांसल और वे यज्ञपरायण होते हैं । उनके पैरोंमें

इस प्रकार श्रीमत्यमहापुराणमें मन्वन्तरानुकल्पनामक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४२ ॥

## एक सौ तैतालीसवाँ अध्याय यज्ञकी प्रवृत्ति तथा विधिका वर्णन

ऋषय उच्चुः

कथं त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम् । पूर्वे स्वायम्भुवे सर्वे यथावत् प्रवर्चीहि नः ॥ १ ॥  
अन्तर्हितायां संध्यायां सार्धं कृतयुगेन हि । कालाख्यायां प्रवृत्तायां प्राप्ते त्रेतायुगे तदा ॥ २ ॥  
ओषधीषु च जातासु प्रवृत्ते वृष्टिसर्जने । प्रतिष्ठितायां चार्तायां ग्रामेषु च पुरेषु च ॥ ३ ॥  
वर्णाश्रमप्रतिष्ठानं कृत्यन्तश्च दैः पुनः ।  
संहितास्तु सुसंहृत्य कथं यज्ञः प्रवर्तितः । एतच्छ्रुत्याव्रवीत् सूतः श्रूयतां तत्प्रचोदितम् ॥ ४ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! पूर्वकालमें स्वायम्भुव मनुके कार्यकालमें त्रेतायुगके प्रारम्भमें किस प्रकार यज्ञकी प्रवृत्ति हुई थी ? जब कृतयुगके साथ उसकी संथा ( तथा संध्यांश ) दोनों अन्तर्हित हो गये, तब कालक्रमानुसार त्रेतायुगकी संधि प्राप्त हुई। उस समय वृष्टि होनेपर ओपरियाँ उत्पन्न हुईं तथा ग्रामों एवं नगरोंमें प्रदानानुसार कह रहा हूँ, मुनिये ॥ १-४ ॥

## सूत उवाच

मन्त्रान् वै योजयित्वा तु इहासुच च कर्मसु । तथा विश्वभुगिन्द्रस्तु यद्यं प्रावर्तयत् प्रभुः ॥ ५ ॥  
देवतैः सह संहृत्य सर्वसाधनसंवृतः । तस्याश्वमेघे वित्ते समाजमुर्महर्येयः ॥ ६ ॥  
यज्ञकर्मण्यवर्तन्त कर्मण्यथे तर्थत्विजः । हृयमाने देवहोत्रे अग्नौ वहुविधं हविः ॥ ७ ॥  
सम्प्रतीतेषु देवेषु सामगेषु च सुस्वरम् । परिक्रान्तेषु लघुषु अव्यर्युपुरुषेषु च ॥ ८ ॥  
आलधेषु च मध्ये तु तथा पशुगणेषु वै । आहृतेषु च देवेषु यज्ञभुक्तु ततस्तदा ॥ ९ ॥  
य इन्द्रियात्मका देवा यज्ञभागमुजस्तु ते । तान् यज्ञन्ति तदा देवाः कलपाद्विषु भवन्ति ये ॥ १० ॥

अध्वर्यवः प्रैपकाले व्युत्थिता ऋष्यस्तथा ।

महर्षयश्च तान् द्वया दीनान् पशुगणांस्तदा । विश्वभुजं ते त्वपृच्छन् कर्यं यज्ञविधिस्तव ॥ ११ ॥  
अधर्मो वलवानेष हिंसा धर्मेष्यस्या तव । नव पशुविधिस्त्वप्रस्तव यज्ञे सुरोत्तम ॥ १२ ॥

अधर्मो धर्मधाताय प्रावद्यः पशुभिस्वया ।

नायं धर्मो श्वाधर्मोऽयं न हिंसा धर्म उच्यते । आगमेन भवान् धर्मं प्रकरोतु यदीच्छति ॥ १३ ॥  
विधिहृष्टेन यज्ञेन धर्मेणाव्यसनेन तु । यज्ञवीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोपितैः ॥ १४ ॥

एष यज्ञो महानिन्द्र स्वयम्भुविहितः पुरा ।

एवं विश्वभुगिन्द्रस्तु ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । उक्तो न प्रतिजग्राह मानमोहसमन्वितः ॥ १५ ॥  
तेषां विवादः सुमहान् जज्ञे इन्द्रमहर्पिणाम् । जज्ञमैः स्यादरैः केन यज्ञव्याप्ति चोच्यते ॥ १६ ॥  
ते तु खिन्ता विवादेन शक्त्या युक्ता महर्यः । संधाय सममिन्द्रेण प्रचक्षुः खचरं वसुम् ॥ १७ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! विश्वभोक्ता सामर्थ्य-शाली इन्द्रने ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कर्ममें मन्त्रोंको प्रयुक्तकर देवताओंके साथ सम्पूर्ण सात्रनोंसे सम्पन्न हो यज्ञ प्रारम्भ किया । उनके उस अश्वमेव-यज्ञके आरम्भ होनेपर उसमें महर्पिण उपस्थित हुए । उस यज्ञकर्ममें ऋत्विगण यज्ञक्रियाको आगे बढ़ा रहे थे । उस समय सर्वप्रथम अग्निमें अनेको प्रकारके हवनीय पठार्य ढाले जा रहे थे, सामगान करनेवाले देवाण विश्वासपूर्वक ऊँचे स्वरसे सामगान कर रहे थे, अव्यर्युगण धीरे स्वरसे मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे थे । पशुओंका समूह मण्डपके मध्यमागमें लाया जा रहा था, यज्ञभोक्ता देवोंका आवाहन हो चुका

था । जो इन्द्रियान्मक देवता तथा जो यज्ञभागके भोक्ता थे और जो प्रत्येक कल्पके आदिमें उत्पन्न होनेवाले अजानदेव थे, देवगण उनका यज्ञ कर रहे थे । इसी बीच जब यज्ञवेदके अव्येता एवं हवनकर्ता ऋषिगण पशु-वलिका उपक्रप करने लगे, तब यूय-के-यूय ऋषि तथा महर्षि उन दीन पशुओंको देवकर उठ खड़े हुए और वे विश्वभुग् नामके विश्वभोक्ता इन्द्रसे पूछने लगे—देवराज ! आपके यज्ञकी यह कैसी विधि है ? आप धर्म-प्राप्तिकी अभिलापासे जो जीव-हिंसा करनेके लिये उद्धत हैं, यह महान् अवर्म है । सुरश्रेष्ठ ! आपके यज्ञमें पशु-हिंसाकी यह नवीन विधि दीख रही है । ऐसा प्रतीत होता है कि

‘आप पशु-हिंसाके व्याजसे धर्मका विनाश करनेके लिये अधर्म करनेपर तुले हुए हैं। यह धर्म नहीं है। यह धर्मसर अधर्म है। जीव-हिंसा धर्म नहीं कही जाती। इसलिये यदि आप धर्म करना चाहते हैं तो वेदविहित धर्मका अनुष्ठान कीजिये। सुरश्रेष्ठ! वेदविहित विधिके असुसार किये हुए यज्ञ और दुर्योगसनरहित धर्मके पालनसे यज्ञके बीजभूत त्रिवर्ग (नित्य धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति होती है। इन्द्र! पूर्वकालमें ब्रह्माने इसीको महान् यज्ञ बतलाया है।’ तत्त्वदर्शी ऋषियोंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर भी विश्वभोक्ता इन्द्रने उनकी वातोंको अङ्गीकार नहीं किया; क्योंकि उस समय वे मान और मोहसे भरे हुए थे। फिर तो इन्द्र और उन महर्षियोंके बीच ‘श्वावरों या जङ्गमोंमेंसे किससे यज्ञानुष्ठान करना चाहिये’—इस वातको लेकर वह अत्यन्त महान् विवाद उठ खड़ा हुआ। यद्यपि वे महर्पि शक्तिसम्पन्न थे, तथापि उन्होंने उस विवादसे खिन्न होकर इन्द्रके साथ संविवरके (उसके निर्णयार्थ) उपरिचर ऋषि होती है। आकाशचारी राजर्पि वसुसे प्रश्न किया ॥ ५-१७ ॥

## ऋषय ऊनुः

महाप्राप्त त्वया दृष्टः कथं यज्ञविधिर्नृप । औन्तानपादे प्रब्रह्म संशयं छिन्धि लः प्रभो ॥ १८ ॥

ऋषियोंने पूछा—उत्तानपाद-नन्दन नरेश! आप प्रकारकी यज्ञ-विधि देखी है, उसे बतलाइये और हम तो सामर्थ्यशाली एवं महान् बुद्धिमान् हैं। आपने किस लोगोंका संशय दूर कीजिये ॥ १८ ॥

## सूत उवाच

श्रुत्वा वाक्यं वसुस्तेषामविवार्य बलावलम् । वेदशाल्यमनुस्मृत्य यज्ञतत्त्वसुवाच इ ॥ १९ ॥  
यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति होवाच षार्थिकः । यष्टव्यं पशुभिर्मैथैरथ मूलफलैरपि ॥ २० ॥  
हिंसा स्वभावो यज्ञस्य इति मे दर्शनागमः । तथैतै भाविता मन्त्रा हिंसालिङ्गा महर्पिभिः ॥ २१ ॥  
दीर्घेण तपसा युक्तैस्तारकादिनिदर्शनैः । तत्प्रमाणं मया चोक्तं तत्साच्छमितुमर्हथ ॥ २२ ॥  
यदि प्रमाणं स्तान्येव मन्त्रवाक्यानि वो द्विजाः । तदा प्रवर्ततां यज्ञो ह्यन्यथा मानृतं वचः ॥ २३ ॥  
एवं कृतोन्तरास्ते तु युज्यात्मानं ततो धिया । अवश्यस्माविनं दृष्ट्वा तमधो श्यशापस्तदा ॥ २४ ॥  
इत्युक्तमाश्रो नृपतिः प्रविवेश रसातलम् । ऊर्ध्वचारी नृपो भूत्या रसातलचरोऽभवत् ॥ २५ ॥  
वसुधातलचारी तु तेन वाक्येन सोऽभवत् । धर्माणां संशयच्छेत्ता राजा वसुरधोगतः ॥ २६ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! उन ऋषियोंका प्रश्न लोगोंको वेदोंके मन्त्रवाक्य प्रमाणभूत प्रतीत होते हों सुनकर महाराज वसु उचित-अनुचितका कुछ भी विचार न कर वेद-शास्त्रोंका अनुस्मरण कर यज्ञतत्त्वका वर्णन करने लगे। उन्होंने कहा—‘शक्ति एवं समय-नुसार प्राप्त हुए पदार्थोंसे यज्ञ करना चाहिये। पवित्र पशुओं और मूल-फलोंसे भी यज्ञ किया जा सकता है। मेरे देखेन्में तो ऐसा लगता है कि हिंसा यज्ञका स्वभाव ही है। इसी प्रकार तारक आदि मन्त्रोंके ज्ञाता उग्रतपस्त्री महर्षियोंने हिंसामूचक मन्त्रोंको उत्पन्न किया है। उसीको प्रमाण मानकर मैने ऐसी बात कही है, अतः आपलोग मुझे क्षमा कीजियेगा। द्विजवरो! यदि आप-

लोगोंको वेदोंके मन्त्रवाक्य प्रमाणभूत प्रतीत होते हों तो यही कीजिये, अन्यथा यदि आप वेद-वचनको ज्ञान मानते हों तो मत कीजिये।’ वसुद्वारा ऐसा उत्तर पाकर महर्षियोंने अपनी बुद्धिसे विचार किया और अवश्यस्मावी विषयको जानकर राजा वसुको विमानसे नीचे गिर जानेका तथा पातालमें प्रविश होनेका शाप दे दिया। ऋषियोंके ऐसा कहते ही राजा वसु रसातलमें चले गये। इस प्रकार जो राजा वसु एक दिन आकाशचारी थे, वे रसातलगामी हो गये। ऋषियोंके शापसे उन्हे पाताल-चारी होना पड़ा। धर्मविप्रयक्त संशयोंका निवारण करनेवाले राजा वसु इस प्रकार अधोगतिको प्राप्त हुए ॥ १९-२६ ॥

तसान्न वाच्यो हेकेन वहुज्ञेनापि संशयः । वहुद्वारस्य धर्मस्य सूक्ष्मा दुरनुगा गतिः ॥ २७ ॥  
 तसान्न निश्चयाद्वचतुं धर्मः शब्द्यो हि केनचित् । देवाज्ञीनुपादाय स्वायम्भुवमृते मनुम् ॥ २८ ॥  
 तसान्न हिंसा यज्ञे स्याद् यदुक्तमुष्मिभिः पुरा । ऋषिकोटिसहस्राणि स्वैस्तपोभिर्दिवं गताः ॥ २९ ॥  
 तसान्न हिंसायज्ञं च प्रशंसन्ति महर्येः । उज्ज्वो मूलं फलं शाकमुद्दापनं तपोधनाः ॥ ३० ॥  
 एतद् दत्त्वा विभवतः स्वर्गलोके प्रतिष्ठिताः । अद्रोहश्चाप्यलोभद्रच दमो भूतदया शमः ॥ ३१ ॥  
 ब्रह्मचर्यं तपः शौचमनुक्रोशं क्षमा धृतिः । सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद्वासदम् ॥ ३२ ॥  
 द्रव्यमन्त्रात्मको यज्ञस्तपश्च समतात्मकम् । यज्ञेऽच देवानाप्नोति वैराजं तपसा पुनः ॥ ३३ ॥  
 ब्रह्मणः कर्मसंन्यासाद्वैराग्यात् प्रकृतेर्लयम् । ज्ञानाप्नोति कैवल्यं पञ्चैता गतयः स्मृताः ॥ ३४ ॥

इसलिये वहुज्ञ ( अत्यन्त विद्वान् ) होते हुए भी और कमण्डलु आदिका दान कर खर्गलोकमें प्रतिष्ठित अकेले किसी धार्मिक संशयका निर्णय नहीं करना चाहिये; क्योंकि अनेक द्वार ( मार्ग- )वाले धर्मकी गति अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्गम है । अतः देवताओं और ऋषियोंके साथ-साथ स्वायम्भुव मनुके अतिरिक्त अन्य कोई भी अकेला व्यक्ति धर्मके विषयमें निश्चयपूर्वक निर्णय नहीं दे सकता । इसलिये पूर्वकालमें जैसा ऋषियोंने कहा है, उसके अनुसार यज्ञमें जीव-हिंसा नहीं होनी चाहिये । हजारों करोड़ ऋषि अपने तपोवलसे खगलोकको गये हैं । इसी कारण महर्षिगण हिंसात्मक यज्ञकी प्रशंसा नहीं करते । वे तपसी अपनी सम्पत्तिके अनुसार उच्छृंखितिसे प्राप्त हुए अन्न, मूल, फल, शाक गतियाँ बतलायी गयी हैं ॥ २७-३४ ॥

एवं विवादः सुमहान् यज्ञस्यासीत् प्रवर्तते । ऋषीणां देवतानां च पूर्वे स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ ३५ ॥  
 ततस्ते ऋषयो द्वप्ना हृतं धर्मं वलेन तु । वसोर्वाक्यमनाहत्य जग्मुस्ते वै यथागतम् ॥ ३६ ॥  
 गतेषु ऋषिसद्वेषु देवा यज्ञमवाप्नुयुः । श्रूयन्ते हि तपःसिद्धा ब्रह्मक्षत्रादयो नृपाः ॥ ३७ ॥  
 प्रियव्रतोत्तानपादौ ध्रुवो मेधातिथिर्वसुः । सुधामा विरजादचैव शंखपाद्राजसस्तथा ॥ ३८ ॥  
 ग्राचीनवर्हिः पर्जन्यो हविर्धानादयो नृपाः । पते चान्ये च वहवस्ते तपेभिर्दिवं गताः ॥ ३९ ॥  
 राजर्ययो महात्मानो येषां कीर्तिः प्रतिष्ठिता । तसाद्विशिष्यते यज्ञात्तपः सर्वैस्तु कारणैः ॥ ४० ॥  
 ब्रह्मणा तपसा सुप्तं जगद्विश्वमिदं पुरा । तसान्नाप्नोति तद् यज्ञात्तपोमूलमिदं स्मृतम् ॥ ४१ ॥  
 यज्ञप्रवर्तनं ह्येवासीत् स्वायम्भुवेऽन्तरे । तदाप्रधृति यज्ञोऽयं युग्मः सह व्यवर्तत ॥ ४२ ॥  
 इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकल्पे देवपिंसंवादो नाम त्रिचत्वारिंशिदिकशततमोऽथायः ॥ १४३ ॥

पूर्वकालमें स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें यज्ञकी प्रथा प्रचलित होनेके अवसरपर देवताओं और ऋषियोके बीच इस प्रकारका महान् विवाद हुआ था । तदनन्तर जब ऋषियोने यह देखा कि यहाँ तो बलपूर्वक धर्मका निनाश किया जा रहा है, तब वसुके कथनकी उपेक्षा

कर वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । उन ऋषियोंके चले जानेपर देवताओंने यज्ञकी सारी क्रियाएँ सम्पन्न कीं । इसके अतिरिक्त इस विषयमें ऐसा भी सुना जाता है कि वहुतेरे ब्राह्मण तथा क्षत्रियनरेश तपस्याके प्रभावसे ही सिद्धि प्राप्त की थी । प्रियव्रत, उत्तानपाद, ध्रुव, मेधातिथि,

वसु, सुधामा, विरजा, शङ्खपाद, राजस, प्राचीनवर्हि, पर्जन्य और हविर्धन आदि वृपतिगण तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से नरेश तपोबलसे खर्गलोकको प्राप्त हुए हैं, जिन महात्मा राजशिंहोंकी कीर्ति अवतक विद्यमान है। अतः तपस्या सभी कारणोंसे सभी प्रकार यज्ञसे बढ़कर है। पूर्वकालमें ब्रह्माने तपस्याके प्रभावसे ही इस सारे

इस प्रकार श्रीमत्यमहापुराणके मन्वन्तरानुकल्पमें देवर्षिसंवाद नामक एक सौ तीनतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ ३५-४२ ॥

→————→

## एक सौ तीनतालीसवाँ अध्याय

**द्वापर और कलियुगकी प्रवृत्ति तथा उनके स्वभावका वर्णन, राजा प्रभतिका वृत्तान्त तथा पुनः कृतयुगके प्रारम्भका वर्णन**

द्वृत उवाच

अत् ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि द्वापरस्य विधि पुनः। तत्र त्रेतायुगे क्षीणे द्वापरं प्रतिपद्यते ॥ १ ॥  
 द्वापरादौ प्रजानां तु सिद्धिरुतेतायुगे तु या। परिवृत्ते युगे तस्मिस्ततः सा सम्प्रणश्यति ॥ २ ॥  
 ततः प्रवर्तिते तासां प्रजानां द्वापरे पुनः। लोभोऽधृतिर्विषयिग्युद्धं तत्त्वानामविनिश्चयः ॥ ३ ॥  
 प्रध्वंसश्चैव वर्णानां कर्मणां तु विपर्ययः। याच्चावधः पणोदण्डो मानोदम्भोऽक्षमा वलम् ॥ ४ ॥  
 तथा रजस्तमो भूयः प्रवृत्तिर्द्वापरे स्मृता। आद्ये कृते तु धर्मोऽस्ति स त्रेतायां प्रपद्यते ॥ ५ ॥  
 द्वापरे व्याकुलो भूत्वा प्रणश्यति कलौ पुनः। वर्णानां द्वापरे धर्माः संकीर्यन्ते तथाऽश्रमाः ॥ ६ ॥  
 द्वैधमुत्पद्यते चैव युगे तस्मिन् श्रुतौ स्मृतौ। द्वैधाच्छ्रुतेः स्मृतेश्चैव निश्चयो नाधिगम्यते ॥ ७ ॥  
 अनिश्चयावगमनाद् धर्मतत्त्वं न विद्यते। धर्मतत्त्वे द्युविश्वाते मतिभेदस्तु जायते ॥ ८ ॥  
 परस्परं विभिन्नैस्तैर्दृष्टीनां विभ्रमेण तु। अयं धर्मो ह्यायं नेति निश्चयो नाधिगम्यते ॥ ९ ॥  
 सूतजी कहते हैं—कृष्णियो ! इसके बाद अब मैं द्वापरयुगकी विधिका वर्णन कर रहा हूँ । त्रेतायुगके क्षीण हो जानेपर द्वापरयुगकी प्रवृत्ति होती है। द्वापरयुगके प्रारम्भ-कालमें प्रजाओंको त्रेतायुगकी भौति ही सिद्धि प्राप्त होती है, किंतु जब द्वापरयुगका प्रभाव पूर्णरूपसे व्याप्त हो जाता है, तब वह सिद्धि नष्ट हो जाती है। उस समय प्रजाओंमें लोभ, धैर्यहीनता, वाणिज्य, युद्ध, सिद्धान्तोंकी अनिश्चितता, वर्णोंका विनाश, कर्मोंका उलट-फेर, याचा (मिक्षावृति), संहार, परायापन, दण्ड, अभिमान, दम्भ, असहिष्णुता, बल तथा रजोगुण एवं तमोगुण बढ़ जाते हैं। सर्वप्रथम कृतयुगमें तो अधर्मका लेशमात्र भी नहीं

जगत्की सृष्टि की थी, अतः यज्ञद्वारा वह बल नहीं प्राप्त हो सकता। उसकी प्राप्तिका मूल कारण तप ही कहा गया है। इस प्रकार स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें यज्ञकी प्रथा प्रारम्भ हुई थी। तबसे यह यज्ञ सभी युगोंके साथ प्रवर्तित हुआ ॥ ३५-४२ ॥

एको वेदद्वचतुष्पादः त्रेताचिह विधीयते । संक्षेपादायुपश्चैव व्यस्यते द्वापरेष्विह ॥ १० ॥  
 वेदद्वचैकद्वचतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु । ऋषिपुत्रैः पुनर्वैदा भिन्नन्ते दृष्टिचित्रमैः ॥ ११ ॥  
 मन्त्रवाक्षणविन्यासैः स्वरक्तमविपर्ययैः । संहिता ऋग्यजुःसाम्नां संहन्यन्ते श्रुतर्पिभिः ॥ १२ ॥  
 सामान्याद् वैहृतान्त्वैव दृष्टिभिन्नैः क्वचित् क्वचित् । व्राह्मणं कल्पसूत्राणि भाष्यविद्यास्तथैव च ॥ १३ ॥  
 अन्ये तु प्रस्थितास्तान् वै केचित् तान् प्रत्यवस्थिताः । द्वापरेषु प्रवर्तन्ते भिन्नार्थैस्तैः स्वदर्शनैः ॥ १४ ॥  
 एकमाव्यर्यं पूर्वमासीद् इधं तु तत्पुनः । सामान्यविपरीतार्थैः कृतं शाखाकुलं त्विदम् ॥ १५ ॥  
 आव्यर्यं च प्रस्थानैर्वहुधा व्याकुलीकृतम् । तथैवार्थवर्णां साम्नां विकल्पैः स्वस्य संक्षयैः ॥ १६ ॥  
 व्याकुलो द्वापरेष्वर्यः क्रियते भिन्नदर्शनैः । द्वापरे संनिवृत्ते तु वेदा नशयन्ति वै कलौ ॥ १७ ॥  
 तेषां विपर्ययोत्पन्ना भवन्ति द्वापरे पुनः । अदृष्टिरूपां चैव तथैव व्याव्युपद्रवाः ॥ १८ ॥  
 वाद्यनःकर्मभिर्दुःखैर्निर्वदो जायते ततः । निर्वेदाज्ञायते तेषां दुःखसोक्षविचारणा ॥ १९ ॥  
 विचारणायां वैराग्यं वैराग्याद् दोषदर्शनम् । दोषाणां दर्शनात्त्वैव ज्ञानोत्पत्तिस्तु जायते ॥ २० ॥

पहले त्रेताके प्रारम्भमें आयुके संक्षिप्त हो जानेके कारण एक ही वेद ऋक्, यजुः, अथर्वण, साम नामोंसे चार विभक्त कर दिया जाता है । फिर द्वापरमें विभिन्न विचारावाले ऋषिपुत्रोद्वारा उन वेदोंका पुनः ( शाखा-प्रशाखा-आदिमें ) विभाजन कर दिया जाता है । वै महर्षिगण मन्त्र-व्राह्मणों, स्वर और क्रमके विपर्ययसे ऋक्, यजुः और साम वेदकी संहिताओंका अलग-अलग संबंधन करते हैं । भिन्न विचारावाले श्रुतर्पियोंने व्राह्मणभाग, कल्पसूत्र तथा भाष्यविद्या आदिको भी कहीं-कहीं सामान्य रूपसे और कहीं-कहीं विपरीतक्रमसे परिवर्तित कर दिया है । कुछ लोगोंने तो उनका समर्थन और कुछ लोगोंने अवरोध किया है । इसके बाद प्रत्येक द्वापरयुगमें भिन्नार्थदर्शी ऋषिवृन्द अपने-अपने विचारानुसार वैदिक प्रथामें अर्थभेद उत्पन्न कर देते हैं । पूर्वकालमें यजुर्वेद एक ही था, परंतु ऋषियोंने उसे बादमें सामान्य और विशेष अर्थसे कृष्ण और यजुः-रूपमें दो भागोंमें विभक्त कर दिया, जिससे

तेषां मेधाविनां पूर्वं मर्त्ये स्वायम्भुवेऽन्तरे । उत्पत्स्यन्तीह शाखाणां द्वापरे परिपन्थिनः ॥ २१ ॥  
 आयुर्वेदविकल्पाद्वच अङ्गानां ज्यौतिष्य च । अर्थशाखाविकल्पाद्वच हेतुशाखाविकल्पनम् ॥ २२ ॥  
 प्रक्रियाकल्पसूत्राणां भाष्यविद्याविकल्पनम् । स्मृतिशाखाविकल्पनम् ॥ २३ ॥  
 द्वापरेष्वभिर्वर्यतन्ते मतिभेदास्तथा चृणाम् । मनसा कर्मणा वाचा कृच्छ्राद् वार्ता प्रसिद्धयति ॥ २४ ॥  
 द्वापरे सर्वभूतानां कायफलेशः परः स्मृतः । लोभोऽधृतिर्विणिगम्युद्देत्वा तत्त्वानामविनिश्चयः ॥ २५ ॥  
 वेदशाखाप्रणयनं धर्माणां संकरस्तथा । वर्णाश्रमपरिच्छंसः कामद्वेषौ तथैव च ॥ २६ ॥  
 पूर्णं वर्णसहस्रे द्वे परमायुस्तदा चृणाम् । निःशेषे द्वापरे तर्सिस्तस्य संव्या तु पादतः ॥ २७ ॥  
 प्रतिष्ठिते यजुर्णार्हाना धर्मोऽसौ द्वापरस्य तु । तथैव संघ्यापादेन अंशस्तस्यां प्रतिष्ठितः ॥ २८ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें सायम्बुव मन्त्रन्तरके द्वापरयुगमें उन मेधावी ऋषियोंके वंशमें इस भूतलपर शास्त्रोंके विरोधी लोग उत्पन्न होते हैं और उस युगमें आयुर्वेदमें विकल्प, ज्योतिषशास्त्रके अङ्गोंमें विकल्प, अर्थशास्त्रमें विकल्प, हेतुशास्त्रमें विकल्प, कल्पसूत्रोंकी प्रक्रियामें विकल्प, भाष्यविद्यामें विकल्प, स्मृतिशास्त्रोंमें नाना प्रकार-के भेद, पृथक्-पृथक् मार्ग तथा मनुष्योंकी बुद्धियोंमें भेद प्रचलित हो जाते हैं। तब मन-वचन-कर्मसे लगे रहनेपर भी बड़ी कठिनाईसे लोगोंकी जीविका सिद्ध हो पाती है। इस प्रकार द्वापरयुगमें सभी प्राणियोंका जीवन भी कष्टसे

ही चल पाता है। उस समय जनतामें लोभ, धैर्यहीनता, वाणिज्य-व्यवसाय, युद्ध, तत्त्वोंकी अनिश्चितता, वेदों एवं शास्त्रोंकी मनःकल्पित रचना, धर्मसंकरता, वर्णाश्रम-धर्मका विनाश तथा काम और द्वेषकी भावना आदि दुर्गुणोंका प्रावल्य हो जाता है। उस समय लोगोंकी दो हजार वर्षोंकी पूर्णयु होती है। द्वापरकी समाजिके समय उसके चतुर्थशतमें उसकी संघाका काल आता है। उस समय लोग धर्मके गुणोंसे हीन हो जाते हैं। उसी प्रकार संघाके चतुर्थ चरणमें संघांशका समय उपस्थित होता है ॥ २१-२८ ॥

द्वापरस्य तु पर्याये पुष्पस्य च निवोधत । द्वापरस्यांशशेषे तु प्रतिपत्तिः कलेरथ ॥ २९ ॥  
 हिंसा स्तेयानुतं माया वधश्वैव तपस्विनाम् । पते स्वभावाः पुष्पस्य साधयन्ति च ताः प्रजाः ॥ ३० ॥  
 एष धर्मः स्मृतः कृत्स्नो धर्मश्च परिहीयते । मनसा कर्मणा वाचा वार्ता सिद्ध्यति वा न वा ॥ ३१ ॥  
 कलौ प्रमारको रोगः सततं चापि भ्रुद्भयम् । अनावृष्टिभयं घोरं देशानां च विपर्ययः ॥ ३२ ॥  
 न प्रमाणं स्मृतश्वास्ति पुष्पे घोरे युगे कलौ । गर्भस्थो म्रियते कश्चिद्यौवनस्तथापरः ॥ ३३ ॥  
 स्थविरे मध्यकौमारे म्रियन्ते च कलौ प्रजाः । अल्पतेजोवलाः पापा महाकोपा ह्याधार्मिकाः ॥ ३४ ॥  
 अनृतव्रतलुभ्याश्च पुष्पे चैव प्रजाः । दुरिष्टैर्दुरधीतैश्च दुराचारैर्दुररग्मैः ॥ ३५ ॥  
 विग्राणां कर्मदोषैश्च प्रजानां जायते भयम् । हिंसमानस्त्येष्वा च क्रोधोऽसुशक्षमः कृतम् ॥ ३६ ॥  
 पुष्पे भवन्ति जन्मनां लोभो मोहश्च सर्वशः । संक्षेप्ते जायतेऽत्यर्थं कलिमासाद्य वै युगम् ॥ ३७ ॥  
 नाधीयन्ते तथा वैदा न यज्ञन्ते द्विजातयः । उत्सीदन्ति तथा चैव वैश्यैः सार्थं तु क्षत्रियाः ॥ ३८ ॥  
 शूद्राणां मन्त्रयोनिस्तु सम्बन्धो ब्राह्मणैः सह । भवतीह कलौ तस्मिंश्च शयनासनभोजनैः ॥ ३९ ॥  
 राजानः शूद्रभूयिषाः पात्तण्डानां प्रवर्तकाः । काषायिणश्च निष्कच्छास्तथा कापालिनश्च ह ॥ ४० ॥

अब द्वापरयुगके बाद आनेवाले कलियुगका वृत्तान्त दूनिये । द्वापरकी समाजिके समय जब अंशमात्र शेष रह जाता है, तब कलियुगकी प्रवृत्ति होती है। जीव-हिंसा, चोरी, असत्यभाषण, माया ( छल-कपट-दम्भ ) और तपस्त्रियोंकी हत्या—ये कलियुगके स्वभाव ( खाभाविक गुण ) हैं। वह प्रजाओंको भलीभूति चरितार्थ कर देता है। यही उसका अविकल धर्म है। यथार्थ धर्मका तो विनाश हो जाता है। उस समय मन-वचन-कर्मसे प्रयत्न करनेपर भी यह संदेह बना रहता है कि जीविकाकी सिद्धि होगी या नहीं। कलियुगमें विसूचिका, प्लेग आदि महामारक रोग होते हैं। इस बोर कलियुगमें भुखमरी

और अकालका सदा भय बना रहता है। देशोंका उलट-फेर तो होता ही रहता है। किसी प्रमाणमें स्थिरता नहीं रहती। कोई गर्भमें ही मर जाता है तो कोई नौजवान होकर, कोई मध्य जवानीमें तो कोई बुढ़ापामें। इस प्रकार लोग कलियुगमें अकालमें ही कालके शिकार बन जाते हैं। उस समय लोगोंका तेज और बल घट जाता है। उनमें पाप, क्रोध और धर्महीनता बढ़ जाती है। वे असत्यभाषी और लोभी हो जाते हैं। ब्राह्मणोंके अनिष्ट-चिन्तन, अत्याध्ययन, दुराचार और शाक-ज्ञान-हीनता-रूप कर्मदोषोंसे प्रजाओंको सदा भय बना रहता है। कलियुगमें जीवोंमें हिंसा, अभिमान, ईर्ष्या, क्रोध, क्षमा,

असहिष्णुता, अवीरता, लोभ, मोह और संक्षोभ आदि दुर्गुण सर्वथा अधिक मात्रामें बढ़ जाते हैं। कलियुगके आनेपर ब्राह्मण न तो वेदोंका अध्ययन करते हैं और न यज्ञानुष्ठान ही करते हैं। क्षत्रिय भी वैश्योंके साथ ( कर्मभ्रष्ट होकर ) विनष्ट हो जाते हैं। कलियुगमें शूद्र मन्त्रोंके ज्ञाता हो जाते हैं और उनका शयन,

आसन एवं भोजनके समय ब्राह्मणोंके साथ सम्पर्क होता है। शूद्र ही अधिकतर राजा होते हैं। पाखण्डका प्रचार बढ़ जाता है। शूद्रलोग गेहआ वज्र धारण कर हाथमें नारियलका कपाल लेन्ऱर काढ खोले हुए ( संन्यासीके वेषमें ) घूमने रहते हैं ॥ २९-४० ॥

ये चान्ये देववर्तिनस्तथा ये धर्मदूषकाः । दिव्यबृत्ताभ्यन् ये केचिद्बृत्यर्थं श्रुतिलिङ्गिनः ॥ ४१ ॥  
 पवंविधायन् ये केचिद्भवन्तीह कलौ युगे । अधीयन्ते तदा वेदाभ्यशूद्रान् धर्मर्थकोविदाः ॥ ४२ ॥  
 यजन्ति ह्यश्वमेधैरनु राजानः शूद्रयोनयः । स्त्रीवालगोवधं कृत्वा हत्वा चैव परस्परम् ॥ ४३ ॥  
 उपहस्य तथान्योन्यं साधयन्ति तथा प्रजाः । दुःखप्रचुरताल्पायुदेशोत्सादः सरोगता ॥ ४४ ॥  
 अधर्माभिनिवेशित्वं तमोवृत्तं कलौ स्मृतम् । भ्रूणहत्या प्रजानां च तदा छेवं शर्वत्ते ॥ ४५ ॥  
 तत्पादायुर्वलं रूपं ग्रहीयन्ते कलौ युगे । दुःखेनाभिप्लुतानां परमायुः शतं वृणाम् ॥ ४६ ॥  
 भूत्वा च न भवन्तीह देहः कलियुगेऽस्तिलाः । उत्सीढन्ते तथा यज्ञाः क्षेवलं धर्मदेतवः ॥ ४७ ॥  
 एवा कलियुगावस्था संघ्यांशौ तु निवोधत । युगे युगे तु श्रीयन्ते श्रीस्त्रीन्पादाद्यच्च सिद्धयः ॥ ४८ ॥  
 युगस्वभावाः संघ्यांशु अवतिष्ठन्ति पादतः । संघ्यास्वभावाः स्वार्थोपु पादेऽवावतस्थिरे ॥ ४९ ॥

कुछ लोग देवताओंकी पूजा करते हैं तो कुछ लोग धर्मको दूषित करते हैं। कुछ लोगोंके आचार-विचार दिव्य होते हैं तो कुछ लोग जीविकोपार्जनके लिये साधुका वेष बनाये रहते हैं। कलियुगमें अधिकतर इसी प्रकारके लोग होते हैं। उस समय शूद्रलोग धर्म और अर्थके ज्ञाता बनकर वेदोंका अध्ययन करते हैं। शूद्रयोनिमें उत्पन्न नृपतिगण अश्वमेध-यज्ञोका अनुष्ठान करते हैं। उस समय लोग खी, बालक और गौओंकी हत्या कर, परस्पर एक-दूसरेको मारकर तथा अपहरण कर अपना खार्य सिद्ध करते हैं। कलियुगमें कष्टका बाढ़ल्य हो जाता है। प्राणियोंकी आशु थोड़ी हो जाती है। देशोंमें उथल-पुथल होता रहता है। व्याधियोंके प्रकोप बढ़ जाता है। अधर्मकी ओर लोगोंकी विशेष

रुचि हो जाती है। सभीके आचार-विचार तामसिक हो जाते हैं। प्रजाओंमें भ्रूणहत्याकी प्रवृत्ति हो जाती है। इसी कारण कलियुगमें आशु, बल और रूपकी क्षीणता हो जाती है। दुःखोंसे संतप्त हुए लोगोंकी परमायु सौ वर्षकी होती है। कलियुगमें सधूर्ण वेद विद्यमान रहते हुए भी नहींके बराबर हो जाते हैं तथा धर्मके एकमात्र कारण यज्ञोंका विनाश हो जाता है। यह तो कलियुगकी दशा बतलायी गयी, अब उसकी संघ्या और संघ्यांशका वर्णन उन्निये। प्रत्येक युगमें तीन-तीन चरण व्यतीत हो जानेके बाद सिद्धियों घट जाती हैं, अर्थात् धर्मका ह्रास हो जाता है। उनकी संघ्याओंमें युगका स्वभाव चतुर्थशा मात्र रह जाता है। उसी प्रकार संघ्यांशोंमें संघ्यांश का स्वभाव भी चतुर्थशा ही शेष रहता है ॥ ४१-४२ ॥

पवं संघ्यांशके काले सम्प्राप्ते तु युगान्तिके तेपामध्रमिणां शास्त्रा भृगूणां च कुले श्वितः ॥ ५० ॥  
 गोत्रेण वै चन्द्रमसो नामा प्रमतिरुच्यते । कलिसंघ्यांशभागेषु मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ ५१ ॥  
 समाञ्छिश्चु सम्पूर्णाः पर्यटन् वै वसुंधराम् । अल्कर्मा स वै सेनां हस्त्यश्वरथसंकुलाम् ॥ ५२ ॥  
 प्रगृहीतायुर्विष्टैः शतशोऽथ सहस्रशः । स तदा तैः परिचृतो स्लेच्छावृ सर्वाच्चिजित्विवान् ॥ ५३ ॥  
 स इन्ना सर्वशश्चैव राजानः शूद्रयोनयः । पाखण्डस्तु स तदा सर्वीच्छियोगानक्षरोत् ग्रस्मः ॥ ५४ ॥

अधर्मिकाश्च ये केवित्तान् सर्वांश्च हनित सर्वशः । औदीच्यान्मध्येदेशांश्च पार्वतीयांस्तथैव च ॥ ५५ ॥  
प्राच्यान्प्रतीच्यांश्च तथा विद्यमृष्टापरान्तिकान् । तथैव दाक्षिणात्यांश्च द्रविडान्सिंहलैः सह ॥ ५६ ॥  
गान्धारान्पारदांश्चैव पहुचान् यवनाञ्छकान् । तुषारान्वर्वराज्यं छ्वेतान्हलिकान्दरदान्ससान् ॥ ५७ ॥  
लम्पकानान्धकांश्यापि चोरजानीस्तथैव च । प्रवृत्तचक्रो वलवाष्ट्रद्राणामन्तस्तु द बभौ ॥ ५८ ॥

### विद्राव्य सर्वथैतानि चत्वार वसुधामिमास् ।

इस प्रकार ज्ञायभूव-मन्वन्तरमें कलियुगके अन्तिम समयमें ग्रास हुए संघांश-कालमें उन अधर्मियोंका शासन करनेके लिये भूगुंशमें चन्द्रगोत्रीय प्रस्तिः\* नामक राजा उत्पन्न होता है । वह अखंचारी नरेश हाथी, घोड़े और खेंसे भरी हुई सेनाको साथ लेकर तीस वर्षोंतक पृथ्वीपर भ्रमण करता है । उस समय उसके साथ आयुधधारी सैकड़ों-हजारों ब्राह्मण भी रहते हैं । वह सामर्थ्याली वीर सभी स्लेढ़ोंका विनाश कर देता है तथा शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए राजाओंका सर्वथा संहार करके सम्पूर्ण पाषण्डोंको भी निर्मल कर देता है । वह सर्वत्र सुशोभित होता है ॥ ५०-५८२ ॥

भाववस्थ हु वंशे तु नुदेवत्येह जग्निवान् ॥ ५९ ॥

पूर्वजन्मनि विष्णुश्च प्रमतिनाय धीर्यवान् । स्वतः स वै चन्द्रमसः पूर्वं कलियुये अभुः ॥ ६० ॥  
द्वार्चिशेऽभ्युदिते वर्षे प्रकान्ते विशति समाः । निजन्ते सर्वभूतानि मातुपाण्येव सर्वशः ॥ ६१ ॥  
कृत्वा वीजाचशिष्ठां तां पृथ्वीं कूरेण कर्मणा । परस्परनिमित्तेन कालेनाकस्मिकेन च ॥ ६२ ॥  
संस्थिता सहसा या तु सेना प्रपतिना रह । गङ्गायमुलयोर्ध्वे सिर्विंश्च जाता समाधिना ॥ ६३ ॥  
ततस्तेषु प्रनप्तेषु संध्यांशे शूरफर्मसु । उत्साद्य पाथिवान् सदांस्तेष्वतीतेषु वै तदा ॥ ६४ ॥  
ततः संध्यांशके काले सम्याने च युगान्तके । स्थितास्त्रल्पाद्यग्निधासु प्रजास्तिह एवचित्क्षेत्रित् ॥ ६५ ॥  
स्वाप्रदानास्तदा ते वै लोभाचिष्टासु वृन्दज्ञाः । उपर्हित्तन्ति धान्योन्यं प्रलुप्यप्तित्परस्परम् ॥ ६६ ॥  
जराजके युगांशे तु संक्षये समुपस्थिते । प्रजास्ता वै तदा सर्वाः परस्परभवादिताः ॥ ६७ ॥  
व्याकुलास्ताः पराचृत्तास्त्यक्त्वा देवयुहाणि तु । स्वान् स्वान् प्राणनवेक्षन्तो निष्कारण्यात्सुदुःखिताः ॥ ६८ ॥  
नष्टे श्रौतस्तुते धर्मे कामक्रोधवशानुगाः । निर्मर्यादा निरानन्दा निःस्तेहा निरप्रवणाः ॥ ६९ ॥  
नष्टे धर्मे प्रतिहता हस्तकाः पञ्चविंशकाः । हित्वा दारांश्च पुत्रांश्च विपाद्व्याकुलप्रजाः ॥ ७० ॥  
अनाद्युष्टिहतास्ते वै वार्तासुत्ख्य दुःखिताः । आश्रयन्ति स प्रत्यन्तान् हित्वा जनपदान् स्वकान् ॥ ७१ ॥

पराक्रमी प्रमति पूर्व जन्ममें विष्णु था और इस प्राणियोंका संहार कर डाला । उसने आकस्मिक कालके जन्ममें महाराज मनुके वंशरों भूतल्पर उत्पन्न हुआ था । वरीभूत हो बिना किसी निमित्तके क्रूर वर्मद्वारा पहले कलियुगमें वह वीर चन्द्रमादा पुत्र था । वक्तीस वर्षवी अवस्था होनेपर उसने बीस वर्षोंतक भूतल्पर सर्वत्र धूम-धूमकर सभी धर्महीन मानवों एवं अन्य

धूम-धूमकर सभी धर्महीनोंका वध कर देता है । शूद्रोंका विनाश करनेवाला वह महाबली राजा उत्तर दिशाके निवासी, मध्यदेशीय, पर्वतीय, पौरस्त्य, पाश्चात्य, विन्ध्याचलके ऊपर तथा तलहटियोंमें स्थित, दाक्षिणात्य, सिंहलोंसहित द्रविड, गान्धार, पारद, पहव, यवन, शक, तुषार, बर्बर, श्वेत, हलीक, दरद, खस, लम्पक, आन्ध्रक तथा चोर जातियोंका संहार कर अपना शासनचक्र प्रवृत्त करता है । वह समस्त अवर्मिक प्राणियोंको खदेड़कर इस पृथ्वीपर विचरण करता हुआ सुशोभित होता है ॥ ५०-५८२ ॥

\* श्रीविष्णुधर्मोन्तर महापुराणमें भी इस राजाकी विस्तृत महिमा विस्तृपित है । वासुदेवशरण, अग्रवाल आदि इतिहासके अनेक विद्वान् इसे राजा विक्रमादित्यका अग्रस्त्र नाम सान्तते हैं ।

सिद्धिको प्राप्त हो गयी । इस प्रकार युगके अन्तमें संघांश-कालके प्राप्त होनेपर सभी अधार्मिक राजाओंका विनाश होता है । उन क्रूरकर्मियोंके नष्ट हो जानेपर भूतलपर कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत प्रजाएँ अवशिष्ट रह जाती हैं । वे लोग अपनी वस्तु दूसरेको देना नहीं चाहते । उनमें लोभकी मात्रा अधिक होती है । वे लोग यूथके-यूथ एकत्र होकर परस्पर एक-दूसरेकी वस्तु छट-खसोट लेते हैं तथा उन्हें मार भी डालते हैं । उस विनाशकारी संघांशके उपस्थित होनेपर अराजकता फैल जाती है । उस समय सारी प्रजामें परस्पर भय बना रहता है । लोग व्याकुल होकर देवताओं और गृहोंको छोड़कर उनसे मुख मोड़ लेते हैं । सभीको

अपने-अपने प्राणोंकी रक्षाकी चिन्ता लगी रहती है । कूरताका बोलवाला होनेके कारण लोग अत्यन्त दुःखी रहते हैं । श्रौत एवं स्मार्त धर्म नष्ट हो जाता है । सभी लोग काम और क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं । वे मर्यादा, आनन्द, स्नेह और लज्जासे रहित हो जाने हैं । धर्मके नष्ट हो जानेपर वे भी विनष्ट हो जाते हैं । उनका कद छोटा हो जाता है और उनकी आयु पचीस वर्षकी हो जाती है । विपादसे व्याकुल हुए लोग अपनी पली और पुत्रोंको भी छोड़ देते हैं । वे अकाङ्क्षे पीड़ित होनेके कारण जीविकाके साधनोंका परिस्थान कर कष्ट झेलते हैं तथा अपने जनपदोंको छोड़कर निकटवर्ती देशोंकी शरण लेते हैं ॥ ५०-७१ ॥

**सरितः सागरानूपान् सेवन्ते पर्वतानपि । चीरकृष्णाजिनधरा निष्परिश्राहः ॥ ७२ ॥**  
**धर्णाश्रमपरिभ्रष्टः संकरं घोरमास्थिताः । एवं कष्टमनुप्राप्ता खल्पशेषाः प्रजास्ततः ॥ ७३ ॥**  
**जन्तवद्वच्छ्रुधाविष्टा दुःखान्धिवैद्यमागमन् । संश्रयन्ति च देशस्तांश्वकवत् परिवर्तनाः ॥ ७४ ॥**  
**ततः प्रजास्तु ताः सर्वा मांसाहारा भवन्ति हि । मृगान् वराहान् वृपभाज् ये चान्ये वनचारिणः ॥ ७५ ॥**  
**भक्ष्यांश्चैवाच्यभक्ष्यांश्च सर्वांस्तान् भक्षयन्ति ताः । समुद्रसंश्रिता यास्तु नदीश्वैव प्रजास्तु ताः ॥ ७६ ॥**  
**तेऽपि मत्स्यान् हरन्तीह आहारार्थं च सर्वशः । अभक्ष्याहारदोषेण एकवर्णगताः प्रजाः ॥ ७७ ॥**  
**यथा कृतयुगे पूर्वमैकवर्णमभूत् किल । तथा कलियुगस्यान्ते शूद्रीभूताः प्रजास्तथाः\* ॥ ७८ ॥**  
**एवं वर्षातं पूर्णे दिव्यं तेपां न्यवर्तत । पट्टिंशश्च सहस्राणि मानुपाणि तु तानि वै ॥ ७९ ॥**  
**अथ दीर्घेण कालेन पक्षिणः पशवस्तथा । यत्स्याह्वैव हताः सर्वैः क्षुधाविष्टैश्च सर्वशः ॥ ८० ॥**  
**निःशेषप्रथ सर्वेषु मत्स्यपक्षिपद्युत्थथ । संघांशो प्रतिपन्ने तु निःशेषास्तु तदा कृताः ॥ ८१ ॥**  
**ततः प्रजास्तु सम्मूय कन्दमूलमयोऽखनन् । फलमूलाशनाः सर्वे अनिकेतास्तथैव च ॥ ८२ ॥**  
**वल्कलान्यथ वासांसि अथःशस्याद्वच सर्वशः । परिग्रहो न तेष्वस्ति धनं शुद्धिरथापि वा ॥ ८३ ॥**

कुछ लोग भागकर नदियों, समुद्र-तटवर्ती भागों तथा पर्वतोंका आश्रय ग्रहण करते हैं । वल्कल और काला मृगचर्म ही उनका परिवान होता है । वे क्रियाहीन और परिग्रहरहित हो जाते हैं तथा वर्णाश्रम-धर्मसे भ्रष्ट होकर धोर संकर-धर्ममें आस्था करने लगते हैं । उस समय खल्प मात्रामें वची हुई प्रजा इस प्रकार कष्ट झेलती है । क्षुधासे पीड़ित जीवजन्तु दुःखके

कारण अपने जीवनसे ऊब जाते हैं, किंतु चक्रकी तरह घूमते हुए पुनः उन्हीं देशोंका आश्रय ग्रहण करते हैं । तदनन्तर वे सारी प्रजाएँ मांसाहारी हो जाती हैं । उनमें भक्ष्यभक्ष्यका विचार लुप्त हो जाता है । वे मृगों, सूकरों, वृशभों तथा अन्यान्य सभी वनचारी जीवोंको खाने लगती हैं । जो प्रजाएँ नदियों और समुद्रोंके तटपर निवास करती हैं, वे भी भोजनके लिये सर्वत्र मछलियोंको

\* कलियुगका वर्णन अन्य पुराणों, सुभापितों, गोस्वामीजीके मानसादि काव्यों तथा समर्थरामदासजीके दासवोध आदिमें भी वहे आकर्षक दंगसे हुआ है जिनके अध्ययनसे लोग दोषोंसे बँचते हैं । पर मत्स्यपुराण-जितना विस्तृत वर्णन वायु, व्रद्धाण्डादि पुराणों एवं महाभारतबनपर्वमें भी नहीं हुआ है । तथापि वहाँ भी वह प्रसङ्ग प्रायः कुछ कम इन्हीं श्लोकोंमें मिलता है ।

पकड़ती है। इस प्रकार अमद्य भोजनके दोषके कारण सारी प्रजा एक वर्णकी हो जाती है, अर्थात् वर्णधर्म नष्ट हो जाता है। जैसे पहले कृतयुगमें एक ही (हंसनामका) वर्ण था, उसी तरह कलियुगके अन्तमें सारी प्रजाएँ शूद्रवर्णकी हो जाती हैं। इस प्रकार उन प्रजाओंके पूरे एक सौ दिव्य वर्ष तथा मानुष गणनाके अनुसार छत्तीस हजार वर्ष व्यतीत होते हैं। इतने लम्बे समयमें क्षुधासे पीड़ित वे सभी लोग सर्वत्र पशुओं, पक्षियों और मछलियोंको

पवं क्षयं गमिष्यन्ति अल्पशिष्टाः प्रजास्तदा । तासामल्पावशिष्टानामाहाराद् वृद्धिरिष्यते ॥ ८४ ॥  
 पवं वर्षशतं दिव्यं संघ्यांशस्तस्य वर्तते । ततो वर्षशतस्यान्ते अल्पशिष्टाः स्त्रियः सुताः ॥ ८५ ॥  
 मिथुनानि तु ताः सर्वा क्षन्योन्यं सम्प्रजाप्तिरे । ततस्तास्तु भ्रियन्ते वै पूर्वोत्पन्नाः प्रजास्तु याः ॥ ८६ ॥  
 जातमात्रेष्वपत्येषु ततः कृतमवर्तत । यथा स्वर्गे शरीराणि नरके चैव देहिनाम् ॥ ८७ ॥  
 उपभोगसमर्थानि एवं कृतयुगादिषु । पवं कृतस्य संतानः कलेशचैव क्षयस्तथा ॥ ८८ ॥  
 विचारणात् निवैदः साम्यावस्थात्मना तथा । ततश्चैवात्मसम्बोधः सम्बोधाद्वर्द्धमशीलता ॥ ८९ ॥  
 कलिशिष्टेषु तेष्वेवं जायन्ते पूर्ववत् प्रजाः । भाविनोऽर्थस्य च वलाच्चतः कृतमवर्तत ॥ ९० ॥  
 अतीतानागतानि स्युर्यानि मन्वन्तरेष्विह । पते युगस्वभावास्तु मयोकास्तु समाप्ततः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार उस समय थोड़ी बची हुई प्रजाएँ नष्ट हो जाती हैं। उनमें भी जो थोड़ी शेष रह जाती हैं, उनकी आहार-शुद्धिके कारण वृद्धि होती है। इस प्रकार कलियुगका संघ्यांश एक सौ दिव्य वर्षोंका होता है। उन सौ वर्षोंके बीत जानेपर जो अल्पजीवी संतानोत्पत्ति होती है और इसके पूर्व जो प्रजाएँ उत्पन्न हुई थीं, वे सभी मर जाती हैं। उन संतानोंके उत्पन्न होनेपर कृतयुगका प्रारम्भ होता है। जैसे ( मृत्युके पश्चात् प्राप्त हुए ) प्राणियोंके शरीर खर्ग और नरकमें उपभोगके योग्य होते हैं, उसी तरह कृतयुग आदि

विस्तरेणानुपूर्वाच्च नमस्कृत्य स्वयम्भुवे । प्रवृत्ते तु ततस्तस्सिन् पुनः कृतयुगे तु वै ॥ ९२ ॥  
 उत्पन्नाः कलिशिष्टेषु प्रजाः कार्त्युगास्तथा । तिष्ठन्ति चेह ये सिद्धा अदृष्टा विहरन्ति च ॥ ९३ ॥  
 सह सप्तर्षिभियै तु तत्र ये च व्यवस्थिताः । ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्रा वीजायै य इह स्मृताः ॥ ९४ ॥  
 तेषां सप्तर्षयो धम कथयन्तीह तेषु च ॥  
 वर्णाश्रमाचारयुतं श्रौतसार्तविधानतः । एवं तेषु क्रियावत्तु प्रवर्तन्तीह वै कृते ॥ ९५ ॥  
 श्रौतसार्तविधानां तु धर्मे सप्तर्षिदर्शिते । ते तु धर्मव्यवस्थार्थं तिष्ठन्तीह कृते युगे ॥ ९६ ॥  
 मन्वन्तराधिकारेषु तिष्ठन्ति ऋषयस्तु ते । यथा दावप्रदग्धेषु तृणेष्वेवापरं तृणम् ॥ ९७ ॥  
 वनानां प्रथमं वृष्ट्या तेषां मूलेषु सम्भवः । एवं युगाद्युगानां वै संतानस्तु परस्परम् ॥ ९८ ॥

मारकर खा डालते हैं। इस प्रकार जब संघ्यांशके प्रवृत्त होनेपर सारे मछली, पक्षी और पशु मारकर निःशेष कर दिये जाते हैं, तब पुनः लोग कन्द-मूल खोदकर खाने लगते हैं। उस समय वे सभी गृहरहित होकर फल-मूलपर ही जीवन-निर्वाह करते हैं। बल्कल ही उनका वस्त्र होता है। वे सर्वत्र भूमिपर ही शयन करते हैं। उनके परिप्रह ( श्री-परिवार आदि ), अर्थशुद्धि और शौचाचार आदि सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ७२-८३ ॥

युगोंमें भी होता है। उसी प्रकार वह नूतन संतान कृतयुगकी वृद्धि और कलियुगके विनाशका कारण होता है। आत्माकी साम्यावस्थाके विचारसे विरक्ति उत्पन्न होती है, उससे आत्मज्ञान होता है और ज्ञानसे धर्म-वृद्धि होती है। इसी कारण कलियुगके अन्तमें वन्दे हुए लोगोंमें भावी प्रयोजनके प्रभावसे पुनः पूर्ववत् प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। तदनन्तर कृतयुगका आरम्भ होता है। उस समय मन्वन्तरोंमें जो भूत एवं भावी कर्म होते रहे हैं, वे सभी आवृत्त होने लगते हैं। इस प्रकार मैते संक्षेपसे युगोंके स्वभावका वर्णन कर दिया ॥ ८४-९१ ॥

प्रचर्ते

श्विच्छेदाद्यावन्मन्तरस्यः । सुखमायुर्वलं रूपं धर्माशौ काम एव च ॥ १२ ॥

युगेष्वेतानि हीयन्ते चयः पादाः क्रमेण तु । इत्येष प्रतिसंधिर्वः श्रीर्तितस्तु मया द्विजाः ॥ १०० ॥

अब मैं पुनः कृतयुगके प्रवृत्त होनेपर ब्रह्माको चलनी हई सारी प्रजा श्रौत एवं स्मार्त विनिका पाठ्य नमस्कार करके उसका विस्तारपूर्वक आनुपूर्वी वर्णन करती है । वे सप्तर्षि धर्मकी व्यवस्था करनेके लिये कृतयुगमें स्थित रहते हैं । वे ही ऋषिगण मन्वन्तरोंके कार्यकालतक स्थित रहते हैं । जैसे वनोंमें दावानिसे जली हई धारोंकी जड़में प्रथम वृष्टि होनेपर पुनः अङ्गुर उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार मन्वन्तरकी समाप्तिर्यन्त एकसे दूसरे युगमें अविच्छिन्नरूपसे प्रजाओंमें परस्पर संतानकी परम्परा चलती रहती है । सुख, आयु, बल, रूप, धर्म, अर्थ, काम—ये सब क्रमशः आगेवाले युगोंमें तीन चरणसे हीम हो जाते हैं । द्विजवरो ! इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे युगकी प्रतिसंधिका वर्णन किया ॥ १२-१०० ॥

चतुर्युगाणां सर्वेषामेतदेव प्रसाधनम् । एषां चतुर्युगाणां तु गणिता श्वेकसप्ततिः ॥ १०१ ॥

क्रमेण परिवृत्तास्ता मनोरन्तरमुच्यते । युगाख्यासु तु सर्वासु भवतीह यदा च यत् ॥ १०२ ॥

तदेव च तदन्याल्पु पुनस्तद्वै यथाक्रमम् । सर्गे सर्गे यथा भेदा शून्यपद्यन्ते तथैव च ॥ १०३ ॥

चतुर्दशसु तावन्तो ष्णेया मन्वन्तरेष्विह । आसुरी यातुधानी च पैशाची यक्षराक्षसी ॥ १०४ ॥

युगे युगे तदा काले प्रजा जायन्ति ताः श्रणु । यथाकल्पं युगैः रावैः भवन्ते तुल्यलक्षणाः ॥ १०५ ॥

इत्येतत्त्वलक्षणं प्रोक्तं युगानां चै यथाक्रमम् ।

मन्वन्तराणां परिवर्तनानि चिरजवृत्तानि युगस्वभावात् ।

क्षणं न संतिष्ठति जीवलोकः क्षयोदयाभ्यां परिवर्तमानः ॥ १०६ ॥

एते युगस्वभावा चः परिक्रान्ता यथाक्रमम् । मन्वन्तराणि यान्यस्मिन् कल्पे वक्ष्यामि तानि च ॥ १०७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकीर्तनयुगवर्तनं नाम चतुश्लारिंशदधिकशतमोऽद्यायः ॥ १४४ ॥

यही नियम सभी—चारों युगोंके लिये है । ये चारों युग जब क्रमशः इकहत्तर वार बीत जाते हैं, तब उसे एक मन्वन्तरका समय कहा जाता है । एक मन्वन्तरके युगोंमें जैसा कार्यक्रम होता है, वैसा ही अन्य मन्वन्तरके युगोंमें भी क्रमशः होता रहता है । प्रत्येक सर्गमें जैसे भेद उत्पन्न होते हैं, वैसे ही चौदहों मन्वन्तरोंमें समझना चाहिये । प्रत्येक युगमें समयालुसार असुर, यातुधान, पिशाच, यक्ष और राक्षस सभावाली प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं । अब उनके विषयमें सुनिये ।

इस प्रकार श्रीमात्स्यमहापुराणमें मन्वन्तरानुकीर्तनयुगवर्तनामक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४४ ॥

## एक सौ पैतालीसवाँ अध्याय

युगानुसार प्राणियोंकी शरीर-स्थिति एवं वर्ण-व्यवस्थाका वर्णन, श्रौत-सार्त, धर्म, तप, यज्ञ, छमा, शम, दया आदि गुणोंका लक्षण, चातुर्होत्रकी विधि तथा पाँच प्रकारके ऋषियोंका वर्णन

सूत उच्चाच

मन्वन्तराणि यानि स्युः कल्पे कल्पे चतुर्दश । व्यतीतानागतानि सुर्यानि मन्वन्तरेष्विह ॥ १ ॥  
 विस्तरेणानुपूर्वाच्च स्थिति वक्ष्ये युगे युगे । तस्मिन् युगे च सम्भूतिर्यासां यावच्च जीवितभ् ॥ २ ॥  
 युगमात्रं तु जीवन्ति न्यूनं तत् स्थाद् द्वयेन च । चतुर्दशलु तावन्तो ह्येया मन्वन्तरेष्विह ॥ ३ ॥  
 मनुष्याणां पश्नूनां च पक्षिणां स्थावरैः स्वह । तेषामायुरुपक्रान्तं युगधर्मेषु सर्वशः ॥ ४ ॥  
 तथैवायुः परिकान्तं युगधर्मेषु सर्वशः । अस्थिर्यां च कलौ दृष्टा भूतानामायुषश्च वै ॥ ५ ॥  
 परमायुः शतं त्वेतन्मानुषाणां कलौ स्वृतम् । देवासुरमनुष्याश्च यश्चगन्धर्वराक्षसाः ॥ ६ ॥  
 परिणाहोच्छ्रुये तुल्या जायन्तेह कृते युगे । पण्णवत्यद्गुलोत्सेधो ह्याश्रानां देवयोनिनाभ् ॥ ७ ॥  
 नवाङ्गुलप्रमाणेन निष्पन्नेन तथाएकम् । एतन्स्वाभाविकं तेषां प्रमाणमधिकुर्वताम् ॥ ८ ॥  
 मनुष्या वर्तमानास्तु युगसंबन्धाकेष्विह । देवासुरप्रमाणं तु सप्तसप्ताङ्गुलं कमात् ॥ ९ ॥

चतुराशीतिक्षेपैव कलिजैरङ्गुलैः स्मृतम् ।

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! प्रत्येक कल्पमें जो धर्मानुसार सर्वत्र प्राणियोंकी आयुकी अस्थिरता देखकर चौदह मन्वन्तर होते हैं, उनमें जो बीत चुके हैं तथा जो आनेवाले हैं, उन मन्वन्तरोंके प्रत्येक युगमें क्रमांकोंकी जैसी उत्पत्ति और स्थिति होती है तथा जितना उनका आयु-प्रमाण होता है, इन सर्वका विस्तारपूर्वक आनुपूर्वाक्तमसे वर्णन कर रहा हूँ । उनमें कुछ प्राणी तो युगपर्यन्त जीवित रहते हैं और कुछ उनसे कम समयतक ही जीते हैं । दोनों प्रकारकी वार्ते देखी जाती हैं । ऐसी ही विधि चौदहों मन्वन्तरोंमें जाननी चाहिये । सर्वत्र युगधर्मानुसार मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों और स्थावरोंकी आयु घटती जाती है । कलियुगमें युग-

मनुष्योंकी परमायु सौ वर्षकी वर्तलायी गयी है । कृतयुगमें देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व और राक्षस—ये सभी एक ही विस्तार और ऊँचाईके शरीरवाले उत्पन्न होते हैं । उनमें आठ प्रकारकी देवयोनियोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंके शरीर छानबे अंगुल ऊँचे और नौ अंगुल विस्तृत निष्पन्न होते हैं, यह उनकी आयुका सामान्य प्रमाण है । अन्य देवताओं तथा असुरोंके शरीरका विस्तार क्रमशः सात-सात अंगुलका होता है । कलियुगके संबंधाशमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके शरीर कलियुगोत्तन मानवोंके अंगुल-प्रमाणसे चौरासी अंगुलके होते हैं ॥ १-९२ ॥

आपद्वो मस्तकं तु नवतालो भवेत् यः ॥ १० ॥

संहृत्याजानुवाहुश्च दैवतैरभिपूज्यते । गवां च हस्तिनां चैव महिषस्याचरात्मनाम् ॥ ११ ॥  
 क्रमेणैतेन विशेषे हासद्वृद्धी युगे युगे । पट्ससत्यद्गुलोत्सेधः पशुराकुदो भवेत् ॥ १२ ॥  
 अङ्गुलानामप्यशतमुत्तेधो हस्तिनां स्मृतः । अङ्गुलानां सहस्रं तु द्विचत्वारिंशद्गुलम् ॥ १३ ॥  
 शताधीमङ्गुलानां तु ह्युत्सेधः शाखिनां परः । मासुपत्त्वं शरीरस्य संनिवेशस्तु यादशः ॥ १४ ॥  
 तल्लक्षणं तु देवानां दृश्यते उच्चर्यात्मान्तर्दर्शनात् । तुद्यथातिशयसंयुक्ते देवानां काय उच्यते ॥ १५ ॥  
 तथा नातिशयश्चैव मानुपः काय उच्यते । इत्येव हि परिकान्ता भावा ये द्विव्यमानुपः ॥ १६ ॥  
 पश्नूनां पक्षिणां चैव स्थावराणां च सर्वशः । गायोऽजाश्वाश्च विशेया हस्तिनः पक्षिणो मृगाः ॥ १७ ॥

उपगुक्तः क्रियास्वेते यदियस्त्वद् सर्वशः । यथाक्लमोपभोगाश्च देवानां पशुमूर्तयः ॥ १८ ॥  
 तेषां लघुनुरुपैश्च प्रवाणैः स्थिरजड्माः । मनोहैस्तत्र तैभौर्गैः सुखिनो हुपयेदिरे ॥ १९ ॥  
 जिसका शरीर पैरसे लेकर मरतकर्पर्यन्त नौ बित्ता-  
 ( एक सौ आठ अंगुल- )का होता है तथा भुजाएँ जानु-  
 तक लम्बी होती हैं, उसका देवतालोग भी आदर करते  
 हैं । प्रत्येक युगमें गौओं, हायियों, भैंसों और खावर  
 प्राणियोंके शरीरोंका हास एवं शृङ्खि इसी क्रामसे जाननी  
 चाहिये । पशु अपने कलुद् ( मौर ) तक छिह्नतर  
 अंगुल ऊँचा होता है । हायियोंके शरीरकी  
 ऊँचाई एक सौ आठ अंगुलकी वत्तायी जाती है ।  
 शृङ्खोंकी अधिक-से-अधिक ऊँचाई एक दजार बानवे  
 अंगुलकी होती है । मनुष्यके शरीरका जैसा आकार-  
 प्रकार होता है, वही लक्षण वंशपरम्परावश देवताओंमें

भी देखा जाता है । देवताओंका शरीर केवल बुद्धिकी  
 अतिशयतासे युक्त बतलाया जाता है । मानव-शरीरमें  
 बुद्धिकी उतनी अधिकता नहीं रहती । इस प्रकार देवताओं  
 और मानवोंके शरीरोंमें उत्पन्न हुए जो भाव हैं, वे पशुओं,  
 पक्षियों और खावर प्राणियोंके शरीरोंमें भी पाये जाते हैं ।  
 गौ, बकरा, बोडा, हायी, पक्षी और मृग—इनका सर्वत्र  
 यद्दीय कर्मेमि उपयोग होता है तथा ये पशुमूर्तियाँ क्रमशः  
 देवताओंके उपमोगमें प्रयुक्त होती हैं । उन उपमोगों  
 देवताओंके रूप और प्रमाणके अनुरूप ही उन चर-अचर  
 प्राणियोंकी मूर्तियाँ होती हैं । वे उन मनोङ्ग भोगोंका  
 उपयोग करके सुखका अनुभव करते हैं ॥ १०-१९ ॥

अथ सन्तः प्रश्नायामि ज्ञात्वा यत्तद्वच वै ।

ब्राह्मणः शुतिश्चाश्च देवानां व्यक्तमूर्तयः । सम्पूर्ण्या प्रक्षणा एतास्तेन सन्तः प्रचक्षते ॥ २० ॥  
 सामान्येषु च धर्मेषु तथा वैशेषिकेषु च । प्रक्षणक्रियाशुक्ताः श्रौतसात्मेन कर्मणा ॥ २१ ॥  
 वर्णाधर्मेषु युक्तस्य लुप्तोदर्कस्य व्यर्गतौ । श्रौतसात्मेन हि यो धर्मो ज्ञानधर्मः स उच्यते ॥ २२ ॥  
 विद्यानां साधनात् साधुर्द्विष्वारी गुरोर्हितः । कारणात् साधनाच्चैव गृहस्थः साधुरुच्यते ॥ २३ ॥  
 तपसश्च तथारण्ये साधुवैखानकः स्मृतः । यतमानो यतिः साधुः स्मृतो योगस्य साधनात् ॥ २४ ॥  
 धर्मो धर्मगतिः प्रोक्तः शब्दो ह्येष क्रियात्मकः । कुशलाकुशलौ चैव धर्माधर्मौ ब्रवीत् प्रभुः ॥ २५ ॥  
 अथ देवाश्च पितरः ऋष्यश्च मानुषाः । अयं धर्मो ह्ययं नेति हुवते मौनमूर्तिना ॥ २६ ॥  
 धर्मेति धारणे धारुर्नहत्ये चैव उच्यते । अधारणेऽमहत्ये वाधर्मः स तु निहच्यते ॥ २७ ॥  
 तत्रेष्प्रापको धर्म आचार्यैरुपदिश्यते । अर्थर्मच्चानिष्टफलं आचार्यैर्नोपदिश्यते ॥ २८ ॥  
 वृद्धाद्वालोलुपाश्चैव आत्मवन्तो हादाभिकाः । सम्यक्विचीता मृदवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते ॥ २९ ॥  
 धर्मवैर्विहितो धर्मः श्रौतसात्मेन द्विजातिभिः । द्वाराग्निहोत्रसम्बन्धमित्या श्रौतस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥

सातों वर्णाधर्माचारो यमैश्च नियमैर्युतः ।

अब मैं संतों तं भा साधुओंका वर्णन कर रहा हूँ ।  
 ब्राह्मण ग्रन्थ और श्रुतियोंके शब्द—ये भी देवताओंकी  
 निर्देशिकामूर्तियाँ हैं । अन्तःकरणमें इनके तथा ब्रह्मका  
 संयोग बना रहता है, इसलिये ये संत कहलाते हैं ।  
 ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैद्य सामान्य एवं विशेष धर्मेमि  
 सर्वत्र श्रौत एवं सार्वत्र विधिके अनुसार कर्मका आचरण  
 करते हैं । वर्णाधर्म-धर्मोंके पालनमें तप्तर तथा खर्ग-प्राप्तिमें  
 सुख माननेवाले लोगोंद्वारा आचरित जो श्रुति एवं स्मृति-

सम्बन्धी धर्म है, उसे ज्ञानधर्म कहा जाता है ।  
 दिव्य सिद्धियोंकी साधनामें संलग्न तथा गुरुका हितैषी  
 होनेके कारण ब्रह्मचारीको साधु कहते हैं । ( अन्य  
 आश्रमोंकी जीविकाता ) निमित्त तथा खयं साधनामें  
 निरत होनेके कारण गृहस्थ भी साधु कहलाता है ।  
 वनमें तपस्या वरनेवाला साधु वैखानस नामसे अभिहित  
 होता है । योगकी साधनामें प्रकल्पशील संन्यासीको भी  
 साधु कहते हैं । ‘धर्म’ शब्द क्रियात्मक है और यह

धर्मचरणमें ही प्रयुक्त होनेवाला कहा गया है। सामर्थ्यशाली भगवान् ने धर्मको कल्याणकारक और अधर्मको अनिष्टकारक बतलाया है तथा देवता, पितर, ऋषि और मानव 'यह धर्म है और यह धर्म नहीं है' ऐसा कहकर मौन धारण कर लेते हैं। 'धृ' धातु धारण करने तथा महत्वके अर्थमें प्रयुक्त होती है। धारण एवं धर्म शब्दका अर्थ इसके विपरीत है। आचार्यलोग इष्टकी प्राप्ति करनेवाले धर्मका ही उपदेश करते हैं। अर्थमें अनिष्ट-फलदायक होता है, इसलिये

पूर्वेन्द्रो वेदविद्यै श्रौतं सप्तर्ष्योऽनुचन्द्र ॥ ३१ ॥

शृंचो यज्ञं विसामानि व्रह्मणोऽङ्गानि वै श्रुतिः । मन्वन्तरस्यातीतत्य स्मृत्वा लन्मनुरव्वीकृ ॥ ३२ ॥  
 तस्मात्सार्तः स्मृतो धर्मो वर्णाश्रमविभागशः । एवं वै द्विविधो धर्मः शिष्टाचारः स उच्यते ॥ ३३ ॥  
 शिष्येर्धातोश्च निष्ठान्ताच्छिष्टशब्दं प्रचक्षते । मन्वन्तरेषु ये शिष्टा इह तिष्ठन्ति धार्मिकाः ॥ ३४ ॥  
 मनुः सप्तर्ष्यश्चैव लोकसन्तानकारिणः । तिष्ठन्तीह च धर्मार्थं ताज्जिष्ठान् सम्प्रवक्षते ॥ ३५ ॥  
 तैः शिष्टैश्चलितो धर्मः स्थाप्यते वै युगे युगे । वार्ता दण्डनीतिः प्रजावर्णाश्रमेष्या ॥ ३६ ॥  
 शिष्टैराचर्यते यस्मात्पुनश्चैव मनुक्षये । पूर्वैः पूर्वं मृतत्वात्य शिष्टाचारः स शाश्वतः ॥ ३७ ॥  
 कानं सत्यं तपोऽलोभो विद्येज्या पूजनं दमः । अष्टौ तानि वरिष्याणि शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥ ३८ ॥  
 शिष्टा यस्माच्चरन्त्येन मनुः सप्तर्ष्यश्च ह । मन्वन्तरेषु सर्वेषु शिष्टाचारस्ततः स्मृतः ॥ ३९ ॥  
 विज्ञेयः श्रवणाच्छ्रौतः सारणात् सार्तं उच्यते । इज्यावेदात्मकः श्रौतः सार्तो वर्णाश्रमात्मकः ॥ ४० ॥

सप्तर्षियोंने पूर्ववर्ती ऋषियोंसे श्रौत-धर्मका ज्ञान प्राप्त करके पुनः उसका उपदेश किया था। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये ब्रह्माके अङ्ग हैं। व्यतीत हुए मन्वन्तरके धर्मोंका स्मरण करके मनुने उनका उपदेश किया है। इसलिये वर्णाश्रमके विभागानुसार प्रयुक्त हुआ धर्म सार्त कहलाता है। इस प्रकार श्रौत एवं स्मार्तरूप द्विविध धर्मको शिष्टाचार बहते हैं। 'शिष्ट' धातुसे निष्ठासंज्ञक 'क' प्रत्यक्षा संयोग होनेसे 'शिष्ट' शब्द निष्पन्न होता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें इस भूतलपर जो धार्मिकलोग वर्तमान रहते हैं, उन्हें शिष्ट कहा जाता है। इस प्रकार लोककी वृद्धि करनेवाले सतर्षि और मनु इस भूतलपर धर्मका प्रचार करनेके लिये स्थित रहते हैं, अतः वे शिष्ट शब्दसे अभिहित होते हैं। वे शिष्टगण प्रत्येक युगमें मार्ग-ऋष्ट हुए धर्मको पुनः स्थापना करते हैं। इसीलिये शिष्टगण

आचार्यगण उसका उपदेश नहीं करते। जो वृद्ध, निर्लोभ, आत्मज्ञानी, निष्कपट, अत्यन्त विनम्र तथा मुदुल स्वभाववाले होते हैं, उन्हें आचार्य कहा जाता है। धर्मके ज्ञाता द्विजातियोद्वारा श्रौत एवं स्मार्त-धर्मका विधान किया गया है। इनमें दारसम्बन्ध ( विवाह ), अग्निहोत्र और यज्ञ—ये श्रौत-धर्मके लक्षण हैं तथा यम और नियमोंसे युक्त वर्णाश्रमका आचरण स्मार्त-धर्म कहलाता है ॥ २०-३०२ ॥

दूसरे मन्वन्तरमें प्रजाओंके वर्णाश्रम-धर्मको सिद्धिके लिये पुनः वेदत्रयी ( ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ), वार्ता ( ऋषिव्यापार ) और दण्डनीतिका आचरण करते हैं। इस प्रकार पूर्वके युगोंमें उपस्थित पूर्वजोद्वारा अभिमत होनेके कारण यह शिष्टाचार सनातन होता है। दान, सत्य, तपस्या, निर्लोभता, विद्या, यज्ञानुष्ठान, पूजन और इन्द्रियनिग्रह—ये आठ आचरण शिष्टाचारके लक्षण हैं। चूँकि मनु और सप्तर्षि आदि शिष्टगण सभी मन्वन्तरोंमें इस लक्षणके अनुसार आचरण करते हैं, इसलिये इसे शिष्टाचार कहा जाता है। इस प्रकार पूर्वानुक्रमसे श्रवण किये जानेके कारण श्रुतिसम्बन्धी धर्मको श्रौत जानना चाहिये और स्मरण होनेके कारण रम्यतिप्रतिपादित धर्मको स्मार्त कहा जाता है। श्रौत-धर्म यज्ञ और वेदखलरूप है तथा स्मार्तधर्म वर्णाश्रम-धर्म-नियामक है ॥ ३१-४० ॥

अत्यङ्गानि श्रद्धयांसि धर्मस्येष्ट तु लक्षणम् ॥ ४१ ॥

हषानुभूतमर्थं च यः पृष्ठो न निषेद्यते । यथाभूतप्रवादस्तु इत्येतद् सत्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥  
ब्रह्मचर्यं तपो औनं निराहारन्प्रयंत्रं च । इत्येतत् तपसो रूपं सुशोरं तु दुरासदम् ॥ ४३ ॥  
पशुणां द्रव्यहविषाणूपसामयजुणां तथा । ऋत्विजां दक्षिणायाइच संयोगो यज्ञ उन्नयते ॥ ४४ ॥  
आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च । वर्तते सततं हृष्टः किया श्रेष्ठा दया स्वता ॥ ४५ ॥  
अकृष्णोऽधित्यतो यस्तु नक्षोरोत्परेतपि । अदुष्टो वाञ्छनः कार्यस्तितिक्षा सा क्षमा स्मृता ॥ ४६ ॥  
क्षमिता रक्ष्यसत्यामासुत्ख्यानां च सर्वभ्रमे । परस्वानामनादानमलोभं इति संकितः ॥ ४७ ॥  
मैथुनस्यासमाचारो अल्पत्वाद्विनान्तर्या । निवृत्तिर्प्रसुचर्यं च तदेतत्त्वमलग्रन्तम् ॥ ४८ ॥

अब मैं धर्मके ग्रन्थोंके अनुका लक्षण बतला रहा अवहार करता है, उसकी वह श्रेष्ठ किया दया हूँ । देखे तथा अनुभव किये हुए विषयके पूछे जानेपर उसे न छिपाना, अपितु धर्मित हुएके अनुसार यथार्थ बहु देना—यह सत्यका लक्षण है । ब्रह्मचर्य, तपस्या, मौनावलम्बन और निराहार रहना—ये तपस्याके लक्षण हैं, जो अत्यन्त र्भागण एवं दुष्कर हैं । जिसमें पशु, द्रव्य, हवि, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, ऋत्विज् तथा दक्षिणाका संयोग होता है, उसे यज्ञ कहते हैं । जो अपनी ही माँति समस्त प्राणियोंके प्रति उनके हित तथा मन्त्रोंके लिये निरन्तर हर्षपूर्वक आत्मार्थं चा परायें या शन्दिग्याणीह यस्य वै । विषये न प्रवर्तन्ते दमस्यैतत्तु लक्षणम् ॥ ४९ ॥  
पञ्चात्मके यो विषये कारणे चाप्लक्षणे । न कुर्धयेत प्रतिहतः स जितात्मा भविष्यति ॥ ५० ॥  
यद्यद्विष्टतमं द्रव्यं न्यायेनैवायातं च यत् । तत्तद् गुणवते देयमित्येतद् दानलक्षणम् ॥ ५१ ॥  
श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितो धर्मो वर्णाश्रमात्मकः । शिष्टाचारप्रबुद्धसद्व धर्मोऽयं साधुसम्मतः ॥ ५२ ॥  
अग्रद्वेष्यो शूलिष्टेषु दृष्टं वै नाभिनन्दति । प्रीतितापविष्वादानां विनिवृत्तिविरक्तता ॥ ५३ ॥  
संन्यासः कर्मणां न्यासः कृतानामहृतैः सह । कुशलाकुशलाभ्यां तु प्रहाणं न्यास उच्यते ॥ ५४ ॥  
अव्यक्तादिविशेषोपन्तद् विकारोऽसिन्निवर्तते । वेतनाक्षेत्रं क्षात्वा क्षाने क्षानी स उच्यते ॥ ५५ ॥  
प्रत्यङ्गानि तु धर्मस्य चेत्येतललक्षणं समृतम् । ऋषिपर्मिर्धर्मतत्त्वहैः पूर्वे स्वायस्मुदेऽन्तरे ॥ ५६ ॥

जिसदी इन्द्रियों अपने अन्वया परायेके हितके लिये विषयोंमें नहीं प्रवृत्त होतीं, यह दमका लक्षण है । जो पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषयों तथा आठ प्रकारके कारणोंमें वावित होनेपर भी क्रोध नहीं करता, वह जितात्मा कहलाता है । जो-जो पराय अपनेको अभीष्ट हों तथा न्यायद्वारा उपार्जित किये गये हो, उन्हे गुणी व्यक्तियों दे देना—यह दानका लक्षण है । जो धर्म श्रुतियों एवं स्मृतियोंद्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रमके आचारसे

युक्त तथा शिष्टाचारद्वारा परिवर्धित होता है, वही साधु-सम्मत धर्म कहलाता है । अनिष्टके प्राप्त होनेपर उससे द्वेष न करना, इष्टकी प्राप्तिपर उसका अभिनन्दन न करना तथा प्रेम, संताप और विपादसे विशेषतया निवृत्त हो जाना—यह विरक्ति-(वैराग्य) का लक्षण है । किये हुए कर्मोंका न किये गये कर्मोंके साथ त्याग कर देना अर्थात् कृत-अकृत दोनों प्रकारके कर्मोंका त्याग संन्यास कहलाता है तथा कुशल (शुभ)

और अकुशल (अशुभ) — दोनोंके परित्यागको न्यास, ज्ञानसे युक्त प्राणीको ज्ञानी कहते हैं। सायम्भुव कहते हैं। जिस ज्ञानके प्राप्त होनेपर अव्यक्तसे लेकर मन्वन्तरमें धर्मतत्वके ज्ञाता पूर्वकालीन ऋषियोंने विशेषपर्यन्त सभी प्रकारके विकार निवृत्त हो जाते हैं धर्मके प्रत्येक अङ्गका यही लक्षण बतलाया है तथा चेतना और अचेतनका ज्ञान हो जाता है, उस ॥ ४९—५६ ॥

अब वो वर्णयित्यामि विधि मन्वन्तरस्य तु । तथैव चातुर्होत्रस्य चातुर्वर्णस्य चैव हि ॥ ५७ ॥  
 प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते । ऋचो यजुंषि सामानि यथावत्प्रतिदैवतम् ॥ ५८ ॥  
 विधिहोत्रं तथा स्तोत्रं पूर्ववत् सम्पवर्तते । द्रव्यस्तोत्रं गुणस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं तथैव च ॥ ५९ ॥  
 सर्वैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेवं चतुर्विधम् । मन्वन्तरेषु सर्वेषु यथाभेदा भवन्ति हि ॥ ६० ॥  
 प्रवर्तयन्ति तेषां वै ब्रह्मस्तोत्रं पुनः पुनः । एवं मन्त्रगुणानां तु समुत्पत्तिशब्दतुर्विधम् ॥ ६१ ॥  
 अर्थवैऋग्यजुःसामानां वेदेष्विह पृथक् पृथक् । ऋषीणां तप्यतां तेषां तपः परमदुद्वरम् ॥ ६२ ॥  
 मन्त्राः प्रादुर्भवेन्त्यादौ पूर्वमन्वन्तरस्य ह । असंतोषाद्भयाद् दुःखान्मोहाच्छोकाच्च पञ्चधा ॥ ६३ ॥  
 ऋषीणां तारका येन लक्षणेन यद्यच्छया । ऋषीणां याद्यात्मं हि तद् वक्ष्यामीह लक्षणम् ॥ ६४ ॥  
 अतीतानागासारां च पञ्चधा शार्षकं स्मृतम् । तथा ऋषीणां वक्ष्यानि आर्षस्येषु सङ्कुच्यतम् ॥ ६५ ॥  
 गुणसाम्बेद वर्तन्ते सर्वसम्प्रलये तदा । अविभागेन देवानामनिर्देश्यतमोमये ॥ ६६ ॥  
 अवृद्धिपूर्वकं तद् वै चेतनार्थं प्रवर्तते । तेनार्थं बुद्धिपूर्वं तु चेतनेनाप्यधिष्ठितम् ॥ ६७ ॥  
 प्रवर्तते तथा ते तु यथा मत्स्योदकाद्यभौमे । चेतनाधिकृतं सर्वं प्रावर्तत शुणात्मकम् ।

अब मैं आपलोगोंसे मन्वन्तरमें होनेवाले चारों वर्णोंके चातुर्होत्रकी विधिका वर्णन कर रहा हूँ। प्रत्येक मन्वन्तरमें विभिन्न प्रकारकी श्रुतिका विधान होता है, किंतु ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद — ये तीनों वेद देवताओंसे संयुक्त रहते हैं। अग्निहोत्रकी विधि तथा स्तोत्रं पूर्ववत् चलते रहते हैं। द्रव्यस्तोत्र, गुणस्तोत्र, कर्मस्तोत्र और अभिजनस्तोत्र — ये चार प्रकारके स्तोत्र होते हैं तथा सभी मन्वन्तरोंमें कुछ भेदसहित प्रकट होते हैं। उन्होंसे ब्रह्मस्तोत्रकी बाँधार प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार मन्त्रोंके गुणोंकी समुत्पत्ति चार प्रकारकी होती है, जो अर्थव, ऋक्, यजुः और साम — इन चारों वेदमें पृथक्-पृथक् प्राप्त होती है। पूर्व मन्वन्तरके आदिमें परम दुष्कर, तपस्यामें लगे हुए उन ऋषियोंके अन्तःकरणमें ये मन्त्र प्रादुर्भूत होते हैं। ये असंतोष,

भय, कष्ट, मोह और शोकरूप पाँच प्रकारके कष्टोंसे ऋषियोंकी रक्षा करते हैं। अब ऋषियोंका जैसा लक्षण, जैसी इच्छा तथा जैसा व्यक्तित्व होता है, उसका लक्षण बतला रहा हूँ। भूतकालीन तथा भविष्यत्कालीन ऋषियोंमें आर्ष शब्दका प्रयोग पाँच प्रभारसे होता है। अब मैं आर्ष शब्दकी उत्पत्ति बतला रहा हूँ। समस्त महाप्रलयोंके समय जब सारा जगत् धोर अन्वकारसे आच्छादित हो जाता है, उस समय देवताओंका कोई विभाग नहीं रह जाता। तीनों गुण अपनी साम्यावस्थामें स्थित हो जाते हैं, तब जो विना ज्ञानका सहारा लिये चेतनाको प्रकट करनेके लिये प्रवृत्त होता है, उस चेतनाधिष्ठित ज्ञानयुक्त कर्मको आर्ष कहते हैं। वे मत्स्य और उदककी भाँति आधाराधेयरूपसे प्रवृत्त होते हैं। तब सारा त्रिगुणात्मक जगत् चेतनासे युक्त हो जाता है ॥ ५७—६७ ॥

कार्यकारणभावेन तथा विषयो विषयित्वं च तथा शार्थपदात्मको । सांसिद्धिकास्तदा चृत्ता क्रमेण भूतभेदाद्य भूतभ्यो जाहिरे ।

तस्य प्रवर्तते ॥ ६८ ॥ कालेन प्रापणीयेन भेदाद्य विषयित्वं च ॥ ६९ ॥  
 कारणात्मकाः ॥ ७० ॥ भूतेन्द्रियाणि च ॥ ७१ ॥ कार्य सद्य पविवर्तते ॥ ७२ ॥

यथोल्मुकात् तु विटपा एककालाद् भवन्ति हि । तथा प्रबृत्ताः क्षेत्रदाः कालेनैकेन कारणात् ॥ ७२ ॥  
 यथान्धकारे खदोतः सहसा सम्प्रदद्यते । तथा निवृत्तो हृष्यकः खदोत इव सञ्ज्वलन् ॥ ७३ ॥  
 स महात्मा शरीरस्त्वत्रैव परिवर्तते । महतस्तमसः पारे वैलक्षण्याद् विभाव्यते ॥ ७४ ॥  
 तत्रैव संस्थितो विद्वांस्तपसोऽन्त इति श्रुतम् । बुद्धिर्विवर्थतस्तस्य प्रादुर्भूता चतुर्विधा ॥ ७५ ॥  
 शानं वैराग्यमैश्वर्यं धर्मश्चेति चतुष्यम् । सांसिद्धिकान्यथैतानि अप्रतीतानि तस्य वै ॥ ७६ ॥  
 महात्मनः शरीरस्य चैतन्यात् सिद्धिरुच्यते । पुरि शेते यतः पूर्वं क्षेत्रगानं तथापि च ॥ ७७ ॥  
 पुरे शायानात् पुरुषः ज्ञानात् क्षेत्रज्ञ उच्यते । यस्माद् धर्मात् प्रसुते हि तस्माद् वै धार्मिकः स्मृतः ॥ ७८ ॥  
 सांसिद्धिके शरीरे च बुद्धश्याव्यक्तस्तु चेतनः । एवं विवृत्तः क्षेत्रं ज्ञानभिसंधितः ॥ ७९ ॥  
 निवृत्तिसमकाले तु पुराणं तदचेतनम् । क्षेत्रज्ञेन परिदातं भोग्योऽयं विषयो मम ॥ ८० ॥

उस जगत्की प्रवृत्ति कार्य-कारण-भावसे उसी प्रकार होती है, जैसे विषय और विषयित्व तथा अर्थ और पद परस्पर घुलेमिले रहते हैं । प्रात् हुए कालके अनुसार कारणात्मक भेद उत्पन्न हो जाते हैं । तब क्रमशः महत्तत्व आदि प्राकृतिक तत्त्व प्रकट होते हैं । उस महत्तत्वसे अहंकार और अहंकारसे भूतेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है । तत्पश्चात् उन भूतोंसे परस्पर अनेको प्रकारके भूत उत्पन्न होते हैं । तब प्राकृतिका कारण तुरंत ही कार्य-रूपमे परिणत हो जाता है । जैसे एक ही उल्मुक-मशाल्से एक ही साथ अनेकों वृक्ष प्रकाशित हो जाते हैं, उसी प्रकार एक ही कारणसे एक ही समय अनेकों क्षेत्रज्ञ—जीव प्रकट हो जाते हैं । जैसे धने अन्यकारमें सहसा जुगन् चमक उठता है, वैसे ही जुगन्द्वीकी तरह चमकता हुआ अव्यक्त प्रकट हो जाता है । वह महात्मा अव्यक्त शरीरमें ही स्थित रहता है और महान् अव्यक्त शरीरमें ही स्थित रहता है और महान् अन्यकारको पार करके वड़ी विलक्षणतासे जाना जाता है । वह विद्वान् अव्यक्त अपनी तपव्याके अन्त समयतक वहीं स्थित रहता है, ऐसा सुना जाता है । बुद्धिको प्राप्त होते हुए उस अव्यक्तके हृदयमें चार प्रकारकी बुद्धि प्रादुर्भूत होती है । उन चारोंके नाम हैं—ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म । उस अव्यक्तके प्राकृतिक कर्म आगम्य हैं । महात्मा अव्यक्तके शरीरके चैतन्यसे सिद्धिका प्रादुर्भाव बतलाया जाता है । चूँकि वह पहले पहल शरीरमें शयन करता है तथा उसे क्षेत्रका ज्ञान प्राप्त रहता है, इसलिये वह शरीरमें शयन करनेसे पुरुष और क्षेत्रका ज्ञान होनेसे क्षेत्रज्ञ कहलाता है । चूँकि वह धर्मसे उत्पन्न होता है, इसलिये उसे धार्मिक भी कहते हैं । प्राकृतिक शरीरमें बुद्धिका संयोग होनेसे वह अव्यक्त चेतन कहलाता है तथा क्षेत्रसे कोई प्रयोजन न होनेपर भी उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । निवृत्तिके समय क्षेत्रज्ञ उस अचेतन पुराणपुरुषको जानता है कि यह मेरा भौग्य विषय है ॥ ८८—८० ॥

ऋषिहिंसागतौ धातुर्विद्या सत्यं तपः श्रुतम् । पप संनिचयो यस्माद् वृहगन्तु ततस्त्वृपिः ॥ ८१ ॥  
 निवृत्तिसमकालात्म बुद्धश्याव्यक्त ऋषिपित्तव्यम् । ऋषेष्वप्ते परमं यस्मात् परमर्पित्वतः स्मृतः ॥ ८२ ॥  
 गत्यर्थाद् ऋषेष्वतेर्धातोर्नामनिवृत्तिकारणम् । यस्मादेव स्वयम्भूतस्तस्मात्म ऋषिता मता ॥ ८३ ॥  
 सेश्वराः स्वयम्भूता ब्रह्मणो मानसाः सुताः । निवर्तमानैस्तैर्वृद्धया महान् परिगतः परः ॥ ८४ ॥  
 यस्माद्विष्टमहत्वेन शेयास्तसामन्महर्पयः । ईश्वराणां सुतास्तेषां मानसाश्चैरसाक्ष्य वै ॥ ८५ ॥  
 ऋषिपित्तसाद् परत्वेन भूतादिऋष्यस्ततः । ऋषिपुत्रा ऋषेष्वकास्तु मैथुनाद् गर्भसम्भवाः ॥ ८६ ॥  
 परत्वेन ऋष्यन्ते वै भूतादीन् ऋषिकस्ततः । ऋषीकाणां सुता ये तु विशेया ऋषिपुत्रकाः ॥ ८७ ॥  
 श्रुत्वा ऋषं परत्वेन श्रुतास्तसाच्छ्रुतर्पयः । अव्यक्तात्मा महात्मा वाह्नारात्मा तथैव च ॥ ८८ ॥  
 भूतात्मा ऋषिन्द्रियात्मा च तेषां तद्वाग्मुच्यते ।

‘ऋषि’ धातुका हिंसा और गति-अर्थमें प्रयोग होता है। इसीसे ‘ऋषि’ शब्द निष्पत्त हुआ है। चूँकि उसे ब्रह्मासे विद्या, सत्य, तप, शास्त्र-ज्ञान आदि समूहोंकी प्राप्ति होती है, इसलिये उसे ऋषि कहते हैं। यह अव्यक्त ऋषि निवृत्तिके समय जब बुद्धि-बलसे परम-पदको प्राप्त कर लेता है, तब वह परमविषय कहलाता है। गत्यर्थक\* ‘ऋषी’ धातुसे ऋषिनामकी निष्पत्ति होती है तथा वह स्वयं उत्पन्न होता है, इसलिये उसकी ऋषिता मानी गयी है। ब्रह्माके मानस पुत्र ऐश्वर्यशाली वे ऋषि स्वयं उत्पन्न हुए हैं। निवृत्तिमार्गमें जो हुए वे ऋषि बुद्धिबलसे परम महान् पुरुषको प्राप्त

कर लेते हैं। चूँकि वे ऋषि महान् पुरुषन्से युक्त रहते हैं, इसलिये महर्षि कहे जाते हैं। उन ऐश्वर्यशाली महर्षियोंको जो मानस एवं औरस पुत्र हुए, वे ऋषिपरक द्वौनेके कारण प्राणियोंमें सर्वग्रथम ऋषि कहलाये। मैथुनद्वारा गर्भसे उत्पन्न हुए ऋषि-पुत्रोंको ऋषिक कहा जाता है। दूँकि ये जीवोंको ब्रह्मपरक बनाते हैं, इसलिये इन्हे ऋषिक कहा जाता है। ऋषिमके पुत्रोंको ऋषि-पुत्रक जानना चाहिये। वे दूसरेसे ऋषिवर्मको सुनकर ज्ञानसम्पन्न होते हैं, इसलिये श्रुतर्षि कहलाते हैं। उनका वह ज्ञान अव्यक्तात्मा, महात्मा, अहंकारात्मा, भूतात्मा और इन्द्रियात्मा कहलाता है ॥ ८१-८८ ॥

### इत्येवमृषिजातिस्तु पञ्चथा नाम विश्रुता ॥ ९ ॥

सुगुरुर्मीचिरत्रिद्वच अङ्गिरा: पुलहः क्रतुः। मनुर्दक्षो वसिष्ठद्वच पुलस्त्यश्चापि ते दश ॥ ९० ॥  
ब्रह्मणो मानसा होते उत्पन्नाः स्वयमीश्वराः। परत्येवर्षयो यसान्मतास्तसान्महर्षयः ॥ ९१ ॥  
ईश्वराणां सुतास्त्वेषामृपयत्तान् निवोधत । काव्यो वृहस्पतिश्चैव कद्यपश्च्यवनस्तथा ॥ ९२ ॥  
उत्थयो वामदेवद्वच अगस्त्यः कौशिकस्तथा । कर्दमो बालखिल्याश्च विश्रवाः शक्तिवर्धनः ॥ ९३ ॥  
इत्येते ऋषयः प्रोक्तास्तपसा ऋषितां गताः। तेषां पुत्रानुषीकांस्तु गर्भोत्पन्नान् निवोधत ॥ ९४ ॥  
वत्सरो नग्नहृष्टश्चैव भरद्वाजश्च वीर्यवान् । ऋषिदीर्घतमाश्चैव वृहद्वक्षाः शरद्वतः ॥ ९५ ॥  
वाजिश्रवाः सुचिन्तश्च शावश्च सपराशरः। शृङ्गी च शङ्खापाच्चैव राजा वैश्रवणस्तथा ॥ ९६ ॥  
इत्येते ऋषिकाः सर्वे स्त्येन ऋषितां गताः। ईश्वरा ऋषयश्चैव ऋषीका ये च विश्रुताः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार ऋषिजाति पाँच प्रकारसे विद्यात है। भृगु, मरीचि, अन्ति, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस ऐश्वर्यशाली ऋषि ब्रह्माके मानस पुत्र हैं और स्वयं उत्पन्न हुए हैं। ये ऋषिगण ब्रह्मपरत्वसे युक्त हैं, इसलिये महर्षि माने गये हैं। अब इन ऐश्वर्यशाली महर्षियोंके पुत्ररूप जो ऋषि हैं, उन्हें सुनिये। काव्य (शुक्राचार्य), वृहस्पति, कद्यप, च्यवन, उत्थय, वामदेव, अगस्त्य, कौशिक, कर्दम, बालखिल्य, विश्रवा और शक्तिवर्धन—ये सभी ऋषि

कहलाते हैं, जो अपने तपोवलसे ऋषिताको प्राप्त हुए हैं। अब इन ऋषियोद्वारा गर्भसे उत्पन्न हुए ऋषीक नामक पुत्रोंको सुनिये। वत्सर, नग्नहृ, पराकमी भरद्वाज, दीर्घतमा, वृहद्वक्षा, शरद्वान्, वाजिश्रवा, सुचिन्त, शाव, पराशर, शृङ्गी, शङ्खपाद् और राजा वैश्रवण—ये सभी ऋषिक हैं और सत्यके प्रभावसे ऋषिताको प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार जो ईश्वर (परमविषय एवं महर्षि), ऋषि और ऋषिक नामसे विद्यात हैं, उनका वर्णन किया गया ॥ ९९-१०७ ॥

एवं मन्त्रकृतः सर्वे कृत्स्नशश्च निवोधत । भृगः काश्यः प्रचेता च दधीचो ह्यात्मवानपि ॥ १०८ ॥  
ऊर्वोऽथ जमदग्निश्च वेदः सारस्वतस्तथा । आष्टिषेणश्च्यवनश्च वीतहृव्यः सवेधसः ॥ १०९ ॥  
वैष्णवः पृथुर्दिवोदासो ब्रह्मवान् गृत्सशौनको । एकोनविंशतिहौते भृगवो मन्त्रकृतमाः ॥ १०० ॥  
अङ्गिराश्चैव त्रितश्च भरद्वाजोऽथ लक्ष्मणः। कृतवाचस्तथा गर्गः स्मृतिसङ्कृतिरेव च ॥ १०१ ॥

\* मतिके ज्ञान, मोक्ष और गमन यहाँ तीनों अर्थ विवित हैं।

गुरुवीतश्च मान्वाता अम्बरीपस्तथैव च । युवनाश्वः पुरुकुत्सः स्वथ्रवस्तु सदस्यवान् ॥१०२॥  
 अजमीढोऽस्वहार्यश्च हृत्कलः कविरेव च । पृष्ठदश्वो विरुपश्च काव्यश्चैवाथ मुद्रलः ॥१०३॥  
 उत्थयश्च शरद्धांश्च तथा वाजिश्रवा अपि । अपस्यौपः सुचितिश्च वामदेवस्तथैव च ॥१०४॥  
 ऋषिजो वृहच्छृङ्खश्च ऋषिर्दीर्घतमा अपि । कक्षीवांश्च त्रयस्त्रिशत् स्मृतात् शङ्किरसां पराः ॥१०५॥  
 पते मन्त्रकृतः सर्वं काश्यपांस्तु निवोधत । कश्यपः सहवत्सारो नैधुबो नित्यं एव च ॥१०६॥  
 असितो देवलङ्घैव षड्गते शङ्किरादिनः । अचिरर्धस्वत्सरन्नैव शावाल्योऽथ गविष्टिरः ॥१०७॥

कर्णकश्च ऋषिः सिद्धस्तथा पूर्वातिथिश्च यः ॥१०८॥

इत्येते त्वत्रयः प्रोक्ता मन्त्रकृत् परमहर्षयः । वसिष्ठदश्चैव शक्तिश्च तृतीयश्च पराशरः ॥१०९॥  
 ततस्तु इन्द्रप्रमितः पञ्चमस्तु भरद्वसुः । पष्ठस्तु मित्रवरुणः सप्तमः दुष्पिडनस्तथा ॥११०॥

इत्येते चतुर्थ विशेया वासिष्ठा ब्रह्मवादिनः ।

इसी प्रकार अब सभी मन्त्रकर्ता ऋषियोंका नाम पूर्णतया सूनिये । भृगु, काश्यप, प्रचेता, दधीचि, आत्मवान्, र्घुव, जमदग्नि, वेद, सारखल, आर्षिषेण, अवन, वीतिदव्य, वेधा, वैष्ण, पृथु, दिवोदास, ब्रह्मवान्, गृहस्त और शैनक—ये उन्हींस भगुर्वशी ऋषि मन्त्रकर्ताओंमें श्रेष्ठ हैं । अङ्गिरा, त्रित, भरद्वाज, लक्ष्मण, कृतवाच, गर्ग, स्मृति, संकृति, गुरुवीत, मान्वाता, अम्बरीप, युवनाश्व, पुरुकुत्स, सश्रव, सदस्यवान्, अजमीढ, अस्त्रहार्य, उत्कल, कवि, पृष्ठदश्व, विरुप, काव्य, मुद्रगाल, उत्थय, शरद्धान्, वाजिश्रवा, अपस्यौप, सुचिति, वामदेव,

ऋषिज, वृहच्छृङ्ख, दीर्घतमा और कक्षीवान्—ये तैतीस श्रेष्ठ ऋषि अङ्गिरागोत्रीय कहे जाते हैं । ये सभी मन्त्रकर्ता हैं । उन कश्यपवंशमें उत्पन्न होनेवाले ऋषियोंके नाम सूनिये । कश्यप, सहवत्सार, नैधुब, नित्य, असित और देवल—ये छः ब्रह्मवादी ऋषि हैं । अत्रि, अर्धस्वन, शावाल्य, गविष्टिर, सिद्धर्षि कर्णक और पूर्वातिथि—ये छः मन्त्रकर्ता महर्षि अत्रि-वंशोत्पन्न कहे गये हैं । वसिष्ठ, शक्ति, तीसरे पराशर, इन्द्रप्रमित, पाँचवें भरद्वसु, छठे मित्रवरुण तथा सातवें कुषिडन—इन सात ब्रह्मवादी ऋषियोंको वसिष्ठवंशोत्पन्न जानना चाहिये ॥

विश्वामित्रश्च गाधेयो देवरातस्तथा वलः ॥१११॥

तथा विद्वान् मधुच्छन्दा ऋषिपञ्चान्योऽवर्मर्णः । अप्टको लोहितश्चैव भृतकीलस्तथास्त्रुधिः ॥११२॥  
 देवत्रया देवरातः पुराणश्च धनंजयः । शिशिरश्च महातेजाः शालङ्कायन एव च ॥११३॥  
 त्रयोदशैते विशेया ब्रह्मिष्ठाः कौशिका वराः । अगस्त्योऽथ दृढ्युम्नो इन्द्रवाहुस्तथैव च ॥११४॥  
 ब्रह्मिष्ठागस्तयो ह्येते त्रयः परमकीर्तयः । मनुवैस्वतदश्चैव ऐलो राजा पुरुरवाः ॥११५॥  
 क्षत्रियाणां वरौ ह्येतौ विशेयौ मन्त्रवादिनौ । अलन्दकश्च वासाश्वः संकीलश्चैव ते त्रयः ॥११६॥  
 पते मन्त्रकृतो क्षेया वैश्यानां प्रवराः सदा । इति द्विनवतिः प्रोक्ता मन्त्रा यैश्च वहिष्कृताः ॥११७॥  
 ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या ऋषिपुत्रान् निवोधत । ऋषीकाणां सुता ह्येते ऋषिपुत्राः श्रुतर्पयः ॥११८॥

इति श्रोमास्त्वे महापुराणे मन्त्रन्तरकल्पनर्णनो नाम पञ्चत्वारिंशदधिकशतमोऽथायः ॥१४५॥

गाधिनन्दन विश्वामित्र, देवरात, वल, विद्वान् ऋषि अगस्त्य-कुलमें उत्पन्न हुए हैं । विवस्वान्-पुत्र मधुच्छन्दा, अघर्मर्ण, अष्टक, लोहित, भृतकील, अस्त्रुधि, मनु तथा इलानन्दन राजा पुरुरवा—क्षत्रिय-कुलमें देवंपरायण देवरात, प्राचीन ऋषि, धनंजय, शिशिर तथा उत्पन्न हुए इन दोनों राजर्षियोंको मन्त्रवादी जानना महान् तेजस्वी शालङ्कायन—इन तेरहोंको कौशिक- चाहिये । भलन्दक, वासाश्व और संकील—वैश्योंमें वशोत्पन्न ब्रह्मवादी ऋषि समझना चाहिये । अगस्त्य, श्रद्धुन तथा इन्द्रवाहु—ये तीनों परम यशस्वी ब्रह्मवादी श्रेष्ठ इन तीनोंको मन्त्रकर्ता समझना चाहिये । इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-कुलमें उत्पन्न हुए

वानवे ऋषियोंका वर्णन किया गया, जिन्होंने मन्त्रोंको ये ऋषिपुत्र जो श्रुतिर्षि कहलाते हैं, ऋषियोंके प्रकट किया है। अब ऋषि-पुत्रोंके विषयमें सुनिये। पुत्र हैं ॥ १११-११८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्यमहापुराणमें मन्वन्तरकल्पवर्णन नामक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४५ ॥

## एक सौ छियालीसवाँ अध्याय

वज्राङ्गकी उत्पत्ति, उसके द्वारा इन्द्रका वन्धन, ब्रह्मा और कश्यपद्वारा समझाये जानेपर इन्द्रको वन्धनमुक्त करना, वज्राङ्गका विवाह, तप तथा ब्रह्माद्वारा वरदान

अथ ऊचः

कथं मत्स्येन कथितस्तारकस्य वधो महान् । कस्मिन् काले विनिर्वृत्ता कथेयं सूतनन्दन ॥ १ ॥  
त्वन्सुखश्चीरसिन्धूरथा कथेयमसृतात्मिका । कर्णाभ्यां पित्रां लृतिरस्ताकं न प्रजापते ॥  
इदं सुने समाख्याहि महाबुद्धे भनोगतम् ॥ २ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतनन्दन ! मत्स्यभगवान् ने अमृतरूपिणी कथामा दोनों कानोद्वारा पान करते हुए भी तारकासुरके वधरूप महान् कार्यका वर्णन किस प्रकार हमलोगोंको तृप्ति नहीं हो रही है। अतः महाबुद्धिमान् किया था ? यह कथा किस समय कही गयी थी ? सूतजी ! आप हमलोगोंके इस मनोऽभिलिप्ति विषयका सुने । आपके मुखरूपी क्षीरसागरसे उद्भूत हुई इस वर्णन कीजिये ॥ १-२ ॥

सूत उचाच

—पृष्ठस्तु मनुना देवो मत्स्यरूपी जनार्दनः । कथं शरवणे जातो देवः पठवदनो विभो ॥ ३ ॥  
एतत्तु वचनं श्रुत्वा पार्थिवस्यामितौजसः । उचाच भगवान् प्रीतो ब्रह्मसुनुर्महामतिम् ॥ ४ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! ( प्राचीन कालकी सरपतके वनमें कैसे हुआ था ? उन अमिततेजस्वी वात है ) राजर्षि मनुने मत्स्यरूपधारी भगवान् विष्णुसे राजर्षि मनुका प्रश्न सुनकर महातेजजी ब्रह्मपुत्र भगवान् प्रश्न किया—‘विभो ! पडानन स्वामिकार्तिकका जन्म मत्स्य प्रसन्नतापूर्वक बोले ॥ ३-४ ॥

मत्स्य उचाच

वज्राङ्गे नाम दैत्योऽभूत् तस्य पुत्रस्तु तारकः । सुरानुद्वासयामास पुरेभ्यः स महावलः ॥ ५ ॥  
ततस्ते ब्रह्मणोऽभ्याशं जग्मुर्भयनिपीडिताः । भीतांश्च त्रिदशान् दृष्ट्वा ब्रह्मा तेषामुवाच ह ॥ ६ ॥  
संत्यजध्वं भयं देवाः शंकरस्यात्मजः शिशुः । तुहिनाचलदौहित्रस्तं हनिष्यति दानवम् ॥ ७ ॥  
ततः काले तु कस्मिन्निवृद् दृष्ट्वा वै शैलजां शिवः । स्वरेतो वहिवदने व्यसुजत् कारणान्तरे ॥ ८ ॥  
तत् ग्राप्तं वहिवदने रेतो देवानतर्पयत् । विद्वार्य जठराण्येषामजीर्ण निर्गतं सुने ॥ ९ ॥  
पतितं तत् सरिद्वयं ततस्तु शरकानने । तसात् स समुद्रतो गुहो दिनकरप्रभः ॥ १० ॥  
स सप्तदिवसो वालो निजज्ञे तारकासुरम् । एवं श्रुत्वा ततो वाक्यं तमूच्चुर्घ्निपिसत्तमाः ॥ ११ ॥

मत्स्यभगवान् ने कहा—राजन् । ( बहुत पहले ) सभी देवगण ब्रह्माके निकट गये । उन देवताओंको दरा वज्राङ्ग नामका एक दैत्य उत्पन्न हुआ है, उसके पुत्रका देखकर ब्रह्माने उनसे कहा—‘देववृन्द ! भय छोड़ नाम तारक या । उस महावली तारकने देवताओंको उनके दो । ( शीघ्र ही ) भगवान् शंकरके एक और स नारोंसे निकालकर खदेड़ दिया । तब भयमीन हुए वे पुत्र हिमाचलका दौहित्र ( नाती ) उत्पन्न होगा,

जो उस दानवका वध करेगा । तड़नन्तर किसी और नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गामें जा गिरा । फिर वहाँसे समय पार्वतीको देखकर शिवजीका वीर्य सखलित हो गया, तब उन्होंने उसे किसी भावी कारणवश अग्निके मुखमें गिरा दिया । अग्निके मुखमें पड़े हुए उस वीर्यने देवताओंको तृप्त कर दिया, किंतु पच न सकनेके कारण वह उनके उदरकों फाड़कर बाहर निकल पड़ा प्रश्न किया ॥ ५-११ ॥

ऋषय उच्चुः

अत्याश्चर्यवनी रम्या कथेयं पापनाशिनी । विस्तरेण हि नो वृहि याथानव्येन शृण्वताम् ॥ १२ ॥  
वज्ञाहो नाम दैत्येन्द्रः कस्य वंशोऽन्धवः पुरा । यस्याभूत् तारकः पुत्रः सुरप्रमथनो वली ॥ १३ ॥  
निर्मितः को वधे चाभूत् तस्य दैत्येश्वरस्य तु । गुहजन्म तु काम्येन अस्माकं वृहि मानद ॥ १४ ॥

ऋषियोंने पूछा—सबको मान देनेवाले सूतजी ! यह कथा तो अन्यन्त आश्चर्यसे परिपूर्ण, रमणीय और पापनाशिनी है । हमलोग इसे सुनना चाहते हैं, अतः आप हमलोगोंको इसे यथार्थप्रसे विस्तारपूर्वक वर्तलाभये । पूर्वफालमें देवनाथोंका मान मर्दन करनेवाला

महावली तारक जिसका पुत्र था, वह दैत्यराज वज्ञाह किसके वंशमें उत्पन्न हुआ था ? उस दैत्यराजके वधके लिये कौन-सा कारण निर्भित हुआ था ? यह सब तथा गुहके जन्मकी कथा हमलोगोंको पूर्णस्पृप्तसे बनलाइये ॥ १२-१४ ॥

मूल उच्चाच

मानसो ब्रह्मणः पुत्रो दक्षो नाम प्रजापतिः । पर्णिं सोऽजनयत् कन्या वारिण्यामेव नः श्रुतम् ॥ १५ ॥  
दृष्टे स दश धर्माय कद्यपाय व्रयोदश । सतविश्वाति सोमाय चतस्रोऽरिष्टुनेमये ॥ १६ ॥  
द्वे वै चाहुकपुत्राय द्वे वै चाहिरस्मे तथा । द्वे कृशाश्वाय विदुपे प्रजापतिसुतः प्रभुः ॥ १७ ॥  
अद्विनिर्दिविर्दिवुर्विश्वा ह्यरिणा सुरसा तथा । सुरभिर्विनता चैव ताम्रा क्रोधवशा इरा ॥ १८ ॥  
कद्मुनिश्व लोकस्य मानरो गोप्य मातरः । तासां सकाशाल्लोकानां जद्गमस्थावरात्मनाम् ॥ १९ ॥  
जन्म नानाप्रकाराणां नाभ्योऽन्ये देहिनः स्मृताः । देवेन्द्रोपेन्द्रपूषाद्याः सर्वे तेऽदितिजा मताः ॥ २० ॥  
दितेः सकाशाल्लोकास्तु हिरण्यकशिपादयः । दानवाश्व दनोः पुत्रा गावदश्च सुरभीसुताः ॥ २१ ॥  
पक्षिणो विनतापुत्रा गरुदप्रमुखाः स्मृताः । नागाः कद्मुनिश्व श्वेयाः शेषाश्वान्येऽपि जन्तवः ॥ २२ ॥  
चैलोक्यनाथं शकं तु सर्वामरणप्रभुम् । हिरण्यकशिपुश्वके जित्वा राज्यं महावलः ॥ २३ ॥  
ततः केनापि कालेन हिरण्यकशिपादयः । निहता विष्णुना संख्ये शेषाश्वेन्द्रेण दानवाः ॥ २४ ॥  
ततो निहतपुत्राभूद् दितिर्वरमयाचत । भर्तारं कश्यपं देवं पुत्रमन्यं महावलम् ॥ २५ ॥

समरे शकहन्तारं स तस्या अददात् प्रभुः ॥ २६ ॥

नियमं वर्त है देवि सहस्रं शुचिमानसा । वर्णाणां लक्ष्यसे पुत्रमित्युक्ता सा तथाकरोत् ॥ २७ ॥  
वर्तन्त्या नियमे तस्याः सहस्राक्षः समाहितः । उपासामाचरत् तस्याः सा चैनमन्वमन्यत ॥ २८ ॥  
दशवन्सरत्येष्व सहस्रस्य तदा दितिः । उच्चाच शकं सुप्रीता वरदा तपसि विश्वा ॥ २९ ॥  
सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! ब्रह्मके मानस पुत्र मत्ताईम चन्द्रमासो, चार अरिष्टेमिको, दो बाहुक-प्रजापति दक्षने वीरेगीके गर्भसे माठ कन्या । उत्पन्न पुत्रओ, दो अङ्गिराको तथा दो विद्वान् कृशाश्वको और शीर्णी, ऐसा हमने सुना है । उन ब्रह्मपुत्र सामर्थ्यशाली समर्पित कर दी थीं । अद्विति, दिति, दनु, विश्वा, दक्षने उन कन्याओंमें दस धर्मको, तेरह कश्यपको, अस्त्रिया, सुरसा, सुरभि, विनता, ताम्रा, क्रोधवशा, इरा, कद्मु-

और मुनि—ये तेरह लोकमाताएँ कश्यपकी पत्नियाँ थीं। इन्हींसे पशुओंकी भी उत्पत्ति हुई है। इन्हींसे स्थावर-जङ्गमरूप नाना प्रकारके प्राणियोंका जन्म हुआ है। देवेन्द्र, उपेन्द्र और सूर्य आदि सभी देवता अदितिसे उत्पन्न माने जाते हैं। दितिके गर्भसे हिरण्यकशिषु आदि दैत्यगण उत्पन्न हुए। दनुके दानव और गौ आदि पशु सुरभीके संतान हुए। गरुड आदि पक्षी विनताके पुत्र कहे जाते हैं। नागों तथा अन्य रेणवेले जन्तुओंको कदूकी संतति समझना चाहिये। कुछ समय बाद हिरण्यकशिषु समस्त देवगणोंके स्वामी त्रिलोकी नाय इन्द्रको जीतकर राज्य करने लगा। तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर हिरण्यकशिषु आदि दैत्यगण भगवान् विष्णुके हाथों मारे गये तथा शेष दानवोंका इन्द्रने युद्धस्थलमें सफाया कर दिया। इस

प्रकार जब दितिके सभी पुत्र मार डाले गये, तब उसने अपने पतिदेव महर्षि कश्यपसे युद्धमें इन्द्रका वध करने-वाले अन्य महावली पुत्रकी याचना की। तब सामर्थ्य-शाली कश्यपजीने उसे वध प्रदान करते हुए कहा—‘देवि ! तुम एक हजार वर्षतक पवित्र मनसे नियमका पालन करो तो तुम्हें वैसा पुत्र प्राप्त होगा।’ पतिद्वारा ऐसा कही जानेपर वह नियममें नत्पर हो गयी। जिस समय वह नियममें संलग्न थी, उस समय सहस्रनेत्रधारी इन्द्र उसके निकट आकर सावधानीपूर्वक उसकी सेवा करने लगे। यह देखकर उसने इन्द्रपर विश्वास कर लिया। जब एक सहस्र वर्षकी अवधिमें दस वर्ष शेष रह गये, तब तपस्यामें निरत वरदायिनी दिति परम प्रसन्न होकर इन्द्रसे बोली ॥ १५-२९ ॥

## दितिस्वाच्छ

पुत्रोत्तीर्णवतां प्रायो विद्धि मां पाकशासन। भविष्यति च ते भ्राता तेन सार्थमिमां श्रियम् ॥ ३० ॥  
भुद्धृत्व वत्स यथाकामं वैलोक्यं हतकण्टकम्। इत्युक्त्वा निद्रयाऽविष्ट चरणाकान्तमूर्धजा ॥ ३१ ॥  
स्वयं सुष्वाप नियता भाविनोऽर्थस्य गौरवात्। तत्तु रन्ध्रं समासाद्य जठरं पाकशासनः ॥ ३२ ॥  
चकार सप्तधा गर्भं कुलिशेन तु देवराट्। एकैकं तु पुनः खण्डं चकार मध्यवा ततः ॥ ३३ ॥  
सप्तधा सप्तधा कोपात्प्राबुध्यत ततो दितिः। विष्वायोवाच मा शक्र धातयेथाः प्रजां मम ॥ ३४ ॥  
तच्छृत्वा निर्गतः शकः स्थित्वा प्राज्ञलिरघ्रतः। उवाच वाक्यं संत्रस्तो मातुर्वै चक्नेरितम् ॥ ३५ ॥

दितिने कहा—पुत्र ! अब तुम ऐसा समझो कि मैंने प्रायः अपने व्रतको पूर्ण कर लिया है। पाकशासन ! ( व्रतकी समाप्तिपर ) तुम्हारे एक भाई उत्पन्न होगा। वत्स ! उसके साथ तुम इस राजलक्ष्मी तथा निष्कण्टक त्रिलोकीके राज्यका इच्छानुसार उपभोग करना। ऐसा कहकर स्वयं दिति निद्राके वशीभूत हो सो गयी। उस समय भावी कार्यके गौरवके कारण वह अपने नियमसे च्युत हो गयी थी; क्योंकि ( सोते समय ) उसके खुले हुए बाल चरणोंसे दबे हुए थे। ऐसी

त्रुटिपर अवसर पाकर देवराज इन्द्र दितिके उदरमें प्रविष्ट हो गये और अपने ब्रह्मसे उस गर्भके सात टुकड़े कर दिये। तत्पश्चात् इन्द्रने कुद्ध होकर पुनः प्रत्येक टुकड़ेको काटकर सात-सात भागोंमें विभक्त कर दिया। इतनेमें ही दितिकी निद्रा भंग हो गयी। तब वह सचेत होकर बोली—‘अरे इन्द्र ! मेरी संततिका विनाश मत कर।’ यह सुनकर इन्द्र दितिके उदरसे बाहर निकल आये और अपनी उस विमाताके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर डरते-डरते मन्द स्वरमें यह वचन बोले—॥ ३०-३५ ॥

## शक्र उचाच्छ

दिवास्वप्नपरा मातः पादाकान्तशिरोरुहा। सप्तसप्तभिरेवातस्त्वं गर्भः कृतो मया ॥ ३६ ॥  
एकोनपञ्चाशत्कृता भगा वज्रेण ते सुताः। दास्यामि तेषां स्यानानि दिवि दैवतपूजिते ॥ ३७ ॥  
इत्युक्ता सा तदा देवी सैवमस्त्वत्यभापत्। पुनश्च देवी भर्त्तारमुवाचासिनलोचना ॥ ३८ ॥

पुत्रं प्रजापते देहि शक्नेतारमूर्जितम् । यो नात्नशस्त्रैर्वद्यव्यन्वं गच्छेत् चिद्रिववासिनाम् ॥३९॥  
इत्युक्तः स तथोघाच तां पत्नीयतिद्वयिताम् । दद्यवर्षसहन्नाणि तपः हृत्वा तु लक्ष्यसे ॥४०॥  
वज्रसारमैरहैरच्छेद्यैरायसद्वद्धैः । वज्राङ्गो नाम पुत्रस्ते भविता पुत्रवत्सले ॥४१॥

सा तु लव्यवरा देवी जगाम तपसे चनम् । दद्यवर्षसहन्नाणि सा तपो ग्रामाच्चरत् ॥४२॥  
तपसोऽन्ते भगवती जनयामास दुर्जयम् । पुजमप्रतिकर्माणमजेयं वज्रुदिद्वद्म् ॥४३॥  
स जानमाच एवामूर्त् सर्वशस्त्राद्यपारगः । उवाच मातरं भक्त्या मानः किं करवाण्यहम् ॥४४॥  
तसुवाच ततो हष्टा दितिर्द्युम्यादिपं च सा । वहो मे हताः पुत्राः सहन्नाक्षेण पुत्रकः ॥४५॥  
नेपां त्वं प्रतिकर्तुं वै गच्छ शक्रवधाय च । वादभित्येव तामुक्त्वा जगाम चिद्रिवं वली ॥४६॥  
वद्वा ततः सहन्नाक्षं पाशेनामोद्यवर्चसा । मातुरन्तिकमारच्छद्याघः क्षुद्रमृगं यथा ॥४७॥  
पतसिद्धन्तरे ग्रहा कद्यपद्य भवतपाः । आगतौ तत्र यत्रात्तां मातापुत्रावभीतकौ ॥४८॥

इन्द्रने कहा—‘मौं ! आप दिनमें सो रही थीं और आपके बाल पैरोंके नीचे दबे हुए थे, इस नियम-शुतुके कारण मैंने आपके गर्भको सात भागोंमें, पुनः प्रत्येकको सात भागोंमें विभक्त कर दिया है । इस प्रकार मैंने आपके पुत्रोंको उनचास भागोंमें बाँट दिया है । अब मैं उन्हें देवताओंद्वारा पूजित स्वर्गलोकमें स्थान प्रदान करूँगा । तब ऐसा उत्तर पानेपर देवी दिति ने कहा—‘अच्छा, ऐसा ही हो ।’ तदनन्तर कजरारे नेत्रोंवाली दिति देवीने पुनः अपने पति महर्षि कद्यपसे याचना की—‘प्रजापते ! मुझे एक ऐसा ऊर्जस्वी पुत्र प्रदान कीजिये, जो इन्द्रको पराजित करनेमें समर्थ हो तथा स्वर्गवासी देवगण अपने शत्रुओंसे जिसका वध न कर सकें ।’ इस प्रकार कहे जानेपर महर्षि कद्यप अपनी उस अत्यन्त दुर्विद्या पत्नीसे बोले—‘पुत्रवत्सले ! दस हजार वर्षतक तपस्या करनेके उपरान्त तुम्हें पुष्करी प्राप्ति होगी । तुम्हारे गर्भसे वज्राङ्ग नामका पुत्र उत्पन्न होगा । उसके अड़ वज्रके सारन्तर्लके समान सुदृढ़ और लौहनिर्मित शत्रुओंद्वारा अच्छेद होंगे ।’ इस प्रकार वरदान पाकर

दृष्टा तु तसुवाचेदं ग्रहा कद्यप एव च । मुञ्चैनं पुत्रं देवेन्द्रं किमनेन प्रयोजनम् ॥४९॥  
अपमानो वयः ग्रामः पुत्र सम्भावितस्य च । असम्भाष्येन यो मुको विद्वि तं मृतमेव च ॥५०॥  
परत्य गौरवान्मुकः शशूरां भारमावदेत् । जीवनेव मृतो वरस दिवसे दिवसे स तु ॥५१॥  
महतां वशमायते चैरं नैवाक्षि वैरिणि । पतच्छृत्वा तु वज्राङ्गः प्रणातो वाक्यमन्वीत् ॥५२॥  
न मे कृत्यमनेनास्ति मातुराशा कृता मया । त्वं सुरासुरनाथो वै मम च प्रपितामहः ॥५३॥  
करिष्ये त्वद्व्यो देव एष सुकः शतक्षुः । तपसे मे रतिर्देव निविन्नं वैव मे भवेत् ॥५४॥  
त्वद्वसादेत् भवत्रजिम्युक्ष्या चिरराम लः । तर्मिस्त्रूपाणी स्थिते हैत्ये प्रोवाचेदं पितायहः ॥५५॥

वहाँ (इन्द्रको बँधा हुआ) देखकर ब्रह्मा और सुनकर वज्राङ्ग विनम्र होकर कहने लगा—‘देव ! कश्यपने उसे वज्राङ्गसे इस प्रकार कहा—‘पुत्र ! इन इन्द्रको बँधनेसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । यह तो मैंने माताकी आज्ञाका पालन किया है । आप तो देवताओं और असुरोंके स्वामी तथा मेरे प्रपितामह हैं, अतः मैं अवश्य आपकी आज्ञाका पालन करूँगा । यह लीजिये, इन्द्र बन्धन-मुक्त हो गये । देव ! मेरे मनमें तपस्या करनेके लिये बड़ी लालसा है । भगवन् ! वह आपकी कृपासे निर्विन पूरा हो जाय ।’ ऐसा कहकर वह चुप हो गया । तब उस दैत्यको चुपचाप सामने स्थित देखकर ब्रह्मा इस प्रकार बोले—‘पुरुषोंका शत्रुके प्रति वैरभाव नहीं रह जाता ।’ यह ॥ ४९-५५ ॥

## व्रह्मोवाच

तपस्त्वं कूरमापद्मो ह्यस्मच्छासनसंस्थितः । अनया चित्तशुद्धया ते पर्याप्तं जन्मनः फलम् ॥ ५६ ॥  
इत्युक्त्वा पद्मजः कन्यां ससर्जयेत्तलोचनाम् । तामस्मै प्रददौ देवः पत्न्यर्थं पद्मसम्भवः ॥ ५७ ॥  
वराङ्गीति च नामास्याः कृत्वा यातः पितामहः । वज्राङ्गोऽपि तथा सार्धं जगाम तपसे वनम् ॥ ५८ ॥  
अर्धवाहुः स दैत्येन्द्रोऽचरदद्वसहस्रकम् । कालं कमलपत्राक्षः शुद्धलुद्धिर्महातपाः ॥ ५९ ॥  
तावच्छावाङ्मुखः कालं तावत्पञ्चाग्निमध्यगः । निराहारो घोरतपास्तपोराशिरजायत ॥ ६० ॥  
ततः सोऽन्तर्जले चक्रे कालं वर्षसहस्रकम् । जलान्तरं प्रविष्ट्य तस्य पत्नी महाव्रता ॥ ६१ ॥  
तस्यैव तीरे सरसस्तप्स्यन्ती मौनमास्थिता । निराहारा तपो घोरं प्रविवेश महावृतिः ॥ ६२ ॥

तस्यां तपसि वर्तन्त्यामिन्द्रश्चके विभीषिकाम् ।

ब्रह्माने कहा—‘वेदा ! (तूने) जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, यही मानो तूने घोर तप कर लिया । इस चित्तशुद्धिसे तुझे अपने जन्मका फल प्राप्त हो गया । ऐसा कहकर प्रभायोनि भगवान् ब्रह्माने एक विशाल नेत्रोंवाली कन्याकी सृष्टि की और उसे वज्राङ्गको पली-खपमें प्रदान कर दिया । पुनः उस कन्याका वराङ्गी नाम रखकर ब्रह्मा वहाँसे चले गये । तत्पश्चात् वज्राङ्ग भी धारानी पली वराङ्गीके साथ तपस्या करनेके लिये बनमें चला गया । वहाँ महातपली दैत्यराज वज्राङ्ग, जिसके नेत्रे कमलदलके समान थे तथा जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गयी थी, एक हजार वर्षतक दोनों हाथ ऊपर बठाकर तपस्या करता रहा । पुनः उसने एक निमित्त इन्द्र तरह-तरहकी विभीषिकाएँ उसले करने

वर्षतक पञ्चाणिके बीचमें बैठकर घोर तपस्या की । उस समय उसने भोजनका परित्याग कर दिया था । इस प्रकार वह तपस्याकी राशि-जैसा हो गया था । तत्पश्चात् उसने एक हजार वर्षतक जलके भीतर बैठकर तप किया । जिस समय वह जलके भीतर प्रविष्ट होकर तप कर रहा था, उसी समय उसकी अत्यन्त सुन्दरी एवं महावतपरायणा पली वराङ्गी भी उसी सरोवरके टटपर मौन धारणकर तपस्या करती हुई घोर तपमें संक्षम हो गयी । उस समय वह निराहार ही रहती थी । उसके तपस्या करते समय (उसे तपसे डिगानेके दूजारे वर्षायुक्त भूमि पृथ्वी तुम पाया एक हुआर



**COLLECTION OF VARIOUS**  
→ HINDUISM SCRIPTURES  
→ HINDU COMICS  
→ AYURVEDA  
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with  
By  
Avinash/Shashi  
Icreator of  
hinduism  
server!

भूत्वा तु मर्कटस्तत्र तदाश्रमपदं महान् ॥ ६३ ॥

चक्रे खिलोलं निःशेषं तुम्नीघटकरण्डकम् । ततस्तु मेषरूपेण कमः तस्याकरोत्महान् ॥ ६४ ॥  
ततो भुजङ्गरूपेण वव्या च चरणद्वयम् । अपाकर्पेत् ततो दूरं भ्रमस्तस्या महीमिमाम् ॥ ६५ ॥  
तपोवलाङ्गा सा तस्य न चध्यत्वं जगाम ह । ततो गोमायुरूपेण तस्यादूपयदाश्रमम् ॥ ६६ ॥  
ततस्तु मेषरूपेण तस्याः क्लेदयदाश्रमम् । भीषिकाभिरनेकाभिस्तां क्षिञ्चयन् पाकशासनः ॥ ६७ ॥  
विरराम यदा नैवं वज्राङ्गमहिपी तदा । शैलस्य दुष्टनां मत्वा शापं वातुं व्यवस्थिता ॥ ६८ ॥  
स शापाभिसुखां दृष्टा शौलः पुरुषविग्रहः । उवाच तां वराङ्गोहां वराङ्गीं भीरुतेतनः ॥ ६९ ॥  
नाहं वराङ्गने दुष्टः सेव्योऽहं सर्वदेहिनाम् । विभ्रमं तु करोत्येष रूपितः पाकशासनः ॥ ७० ॥

एतस्मिन्नन्तरे जातः कालो वर्षसहस्रिकः ।

तस्मिन् गते तु भगवान् काले कमलसम्भवः । तुष्टः प्रोवाच वज्राङ्गं नमागम्य जलाश्रयम् ॥ ७१ ॥

वे बन्दरका विशाल रूप धारणकर उसके आश्रमपर पहुँचे और वहाँके सम्पूर्ण तुंबी, घट और पिटारी आदिको नितर-वितर कर दिया । फिर मेष-रूपसे उसे भलीभौति कप्पाया । तत्पश्चात् सर्पका रूप बनाकर उसके दोनो चरणोको अपने शरीरसे बाँधकर इस पृथ्वीपर धूमते हुए उसे दूरतक घसीटते रहे, किंतु वराङ्गी तपोवलसे सम्पन्न थीं, अतः इन्द्रद्वारा मारी न जा सकी । तब इन्द्रने शृगालका रूप धारणकर उसके आश्रमको दूरित कर दिया । फिर उन्होने बादल बनाकर उसके आश्रमको भिगो दिया । इस प्रकार इन्द्र अनेकों प्रकारकी विभीषिकाओंको दिखाकर उसे कष्ट पहुँचाते रहे । जब इन्द्र इस प्रकारके कुकर्मसे वित नहीं ॥ ६३-७१ ॥

व्रहोवाच

ददामि सर्वकामांस्ते उत्तिष्ठ दितिनन्दन ।  
एवमुक्तस्तदोत्थाय दैत्येन्द्रस्तपसां निधिः । उवाच प्राज्ञलिर्वाक्यं सर्वलोकपितामहम् ॥ ७२ ॥

ब्रह्माने कहा—दितिनन्दन ! उठो । मैं तुम्हें तुम्हारी सारी मनोवाञ्छित वस्तुएँ दे रहा हूँ । ऐसा कहे जानेपर तपोनिधिं दैत्यराज वज्राङ्ग उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्मासे इस प्रकार कहा ॥

वज्राङ्ग उवाच

आसुरो मास्तु मे भावः सन्तु लोका ममाश्रयाः । तपस्येव रतिमेऽस्तु शरीरस्यास्तु वर्तमम् ॥ ७३ ॥  
एवमस्त्विति तं देवो जगाम स्वकमालयन् । वज्राङ्गोऽपि समाप्ते तु तपसि स्थिरसंयमः ॥ ७४ ॥  
आहारयिच्छन्मार्यां स्वां न ददर्शीश्वमे स्वके । क्षुधाविष्टः स शैलस्य गहनं प्रविवेश ह ॥ ७५ ॥

आदातुं फलमूलानि स च तस्मिन् व्यलोक्यत् ।

रुदतीं तां प्रियां दीनां तनुप्रच्छादिताननाम् । तां खिलोक्य स दैत्येन्द्रः प्रोवाच परिसान्त्वयन् ॥ ७६ ॥  
वज्राङ्गने माँगा—देव ! मेरे शरीरमें आसुर भावका ही मेरी रति हो और मेरा यह शरीर वर्तमान रहे ।  
संचार मत हो, मुझे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति हो । तपस्यामै ‘एवमस्तु—ऐसा ही हो’ ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा